(१) तत्त्व क्या है ? (२) वैष्णवोंको जपने योग्य क्या है ? (३) उनका ध्येय क्या है ? (४) मोक्षका सर्वोत्तम साधन क्या है ? ॥ ४ ॥

श्रेष्ठो धर्मेषु धर्मः को वैष्णवाः कतिधा प्रभो ।
किंलक्षण विधिः को वा कालक्षेपस्य तत्कृते ॥ ५ ॥

(५) श्रेष्ठ धर्म क्या है ? (६) श्रीवैष्णव कितने प्रकारके होते हैं ? (७) उनके लक्षण क्या हैं ? (८) उनके कालक्षेप करने की विधि क्या है ? ॥ ५ ॥

प्राप्यं किं तैर्निवस्तव्यं कुत्रेति परिपृच्छते ।
समाधानंयतिस्तस्मा उपादिक्षत्क्रमेण सः ॥ ६ ॥

(९) उनका प्राप्य क्या है ? और (१०) उन्हें निवास कहाँ करना चाहिये ? यतिराजने क्रमसे सबका उत्तर दे दिया ॥ ६ ॥

जानन्नपि समस्तार्थांल्लोककल्याणवाञ्छया ।
श्रुत्वैतत्स समाधानं परां तृप्तिमुपाययौ ॥ ७ ॥

यद्यपि सुरसुरानन्दजी इन प्रश्नोंका उत्तर जानते थे तथापि दृढताके-लिये समाधान सुनकर कृतार्थ हो गये ॥ ७ ॥

जङ्घालोष्ट्रसमारूढान् प्रासिकानासिकानपि ।
बहूनागच्छतो म्लेच्छानस्वच्छाँस्ते लुलोकिरे ॥ ८ ॥

अत्यन्तवेगसे चलनेवाले ऊँटोंपर चढ़े हुए भाला और तलवार लिये हुए, बहुतसे आते हुए अपवित्र यवनोंको उन्होंने देखा ॥ ८ ॥

आश्रमाद्बहिरेवामी श्मश्रुला आदरात्स्थिताः ।
आगत्य वामनो नाम प्रावोचत्तेषु साञ्जलिः ॥९॥

ये सब यवन आश्रमसे बाहर ही खड़े हो गये । उनमेंसे वामननामक एकब्राह्मण स्वामीजीके पास आकर हाथ जोड़े हुए स्तुति करने लगा ॥९॥

ब्राह्मणोऽहं महाभाग सैनिका यवना इमे ।
निखिलान्प्रैषयद्राज्यधुरन्धरसिकन्दरः ॥१०॥

हे महाभाग ! मैं ब्राह्मण हूँ । ये सैनिक मुसलमान हैं । बादशाह सिकन्दरने हम सबको भेजा है ॥ १० ॥

तन्मूर्ध्नि वेदना जाता प्रभो प्राणापहारिणी ।
अतो भवन्तमानेतुं वयं सर्वे समागताः ॥११॥

बादशाहके मस्तकमें प्राणहारिणी पीड़ा हो रही है अतः आपको लेनेकेलिये हम सब आये हैं ॥ ११ ॥

यदि नाम भवान्नाथो न व्रजेत्साम्प्रतं लघु ।
व्यथापृक्तो नृपो नूनं कथाशेषो भविष्यति ॥१२॥

यदि आप स्वामी इस समय शीघ्र नहीं पधारेंगे तो अवश्य ही बादशाहकी मृत्यु हो जायगी ॥ १२ ॥

समदर्शी भवानस्ति दयालुहृदयोऽपि च ।
अनामयमवाप्नोतु यथा स क्रियतां तथा ॥१३॥

आप समदर्शी तथा दयालु हैं । अतः बादशाह जैसे नीरोग हों वैसा उपाय आप करिये ॥ १३ ॥

वार्तामेतां समाकर्ण्य मुनेर्हृदयमद्रवत् ।
दया नापेक्षते सत्यं भेदभावं कदाचन ॥१४॥

इस सन्देशको सुनकर मुनिराजका हृदय पिघल गया । सत्य है; दया कभी भेदभाव को नहीं देखती ॥ १४ ॥

दुराचारोऽपि चेत्कश्चिद्विवशो दुःखकातरः ।
साहायकमपेक्षेत धत्ते तस्य तदात्मवान् ॥१५॥

यदि कोई पापी भी सहायताकी अपेक्षा करे तो महान् पुरुष अवश्य उसकी सहायता करते हैं ॥ १५ ॥

अयं योग्योऽथवाऽयोग्य इत्येवं सम्प्रधारणा ।
आपत्काले न शोभेत दयार्द्रमनसां सताम् ॥१६॥

यह सहायताके योग्य है अथवा नहीं, ऐसा विचार आपत्ति के समय दयालुसत्पुरुषोंको शोभा नहीं देता ॥ १६ ॥

यतिःप्रोवाच वो भूपो भद्रमेतु प्रयात च ।
कार्यान्तरनिमग्नोऽहं तत्र गन्तुं न कामये ॥१७॥

श्रीस्वामीजीने कहा, तुम्हारे राजाका कल्याण हो । तुम लोग जाओ । मैं अन्य कार्यमें लगा हूँ अतः वहाँ नहीं जाना चाहता ॥ १७ ॥

मुन्यनागमनश्रावादीर्घमुच्छ्वस्य विह्वलाः ।
सर्वे दुर्गन्धयामासुस्ते सदागतिमण्डलम् ॥१८॥

मुनिराजके न चलनेकी बात सुनकर सब सैनिकोंने व्याकुल होकर लम्बी साँस लेकर वायुमण्डलको दुर्गन्धित कर दिया ॥ १८ ॥

उदासीनान्समासीनान्समासाद्य सदग्रणीः ।
राजा वोऽनामयो जातो मा स्म शोचत सोऽभ्यधात् ।१९॥

श्रीस्वामीजीने उन सबोंको उदास बैठे देखकर कहा कि तुम लोग चिन्ता मत करो । तुम्हारे बादशाहको आराम हो गया है ॥ १९ ॥

अविश्वासग्रहग्राहगृहीतैर्नृपकिङ्करैः ।
मयारोहचणश्चैकः प्रेषितो नृपसन्निधौ ॥२०॥

बादशाहके दूतोंको विश्वास नहीं हुआ । तब उन्होंने शीघ्र एक अच्छे ऊँटसवारको (दिल्ली) भेजा ॥ २० ॥

तरस्वी त्वरितं गत्वा गृहीतनृपवार्तकः ।
अल्पैरहोभिरागत्य सुखयामास सैनिकान् ॥ २१ ॥

उस ऊँटसवारने दिल्ली शीघ्र जाकर, थोड़े ही दिनोंमें आकर बादशाहके शुभ समाचारसे सैनिकोंको प्रसन्न कर दिया ॥ २१ ॥

योगिनो योगसिद्धिं तां म्लेच्छराजगुरुस्तदा ।
तकी कोऽपि कुतर्की स विषेहे न विषान्तरः ॥ २२ ॥

बादशाहके गुरु तक़ी विषैला हृदयवाला होनेके कारण इस योगसिद्धिको न सह सका ॥ २२ ॥

अमर्यादस्तकी सोऽथ काशीमागत्य सन्मुनिम् ।
विजेतुं यतनं वादे चक्रे मूर्खशिरोमणिः ॥२३॥

वह तक़ी काशीमें आकर श्रीस्वामीजीको वादमें जीतनेका प्रयत्न करने लगा ॥ २३ ॥

वामनं तं पुनः प्रेष्य स्वामिनं समसूचयत् ।
तकी वादाय सोत्कण्ठस्तवाज्ञामिच्छतीति च ॥२४॥

उस तक़ीने उसी वामनब्राह्मणको पुनः भेजकर स्वामीजीको सूचना दी कि आपके द्वारपर तक़ी वाद करनेकेलिये उत्कण्ठित होकर बैठा है ॥ २४ ॥

तन्मुखात्तद्वचः श्रुत्वा संत्यक्तम्लेच्छभाषणः ।
त्यक्तव्रतः स कालज्ञस्तकीं मुनिरजूहवत् ॥२५॥

वामनके मुखसे यह वचन सुनकर म्लेच्छोंके साथ वार्तालापका त्याग करनेवाले श्रीस्वामीजीने नियमको छोड़कर उस तक़ीको बुलाया ॥ २५ ॥

अहङ्कारमहासर्पदंष्ट्रास्पर्शविमूर्छितः ।
तं कथञ्चन पप्रच्छ फेनिलेन मुखेन सः ॥ २६ ॥

अहङ्काररूपमहासर्पके काटनेसे मूर्छित हुआ, मुखमें फेन भरकर जैसे तैसे तक़ीने पूछा ॥ २६ ॥

मूर्तिपूजापरायत्ता निहतैवाशरीरता ।
ब्रह्मणस्तत्कथं श्रीमाँस्तदाराधनतत्परः ॥२७॥

उसने पूछा कि, मूर्तिमत्ताके अधीन होकर ब्रह्मकी अशरीरता नष्ट हो जाती है। तो आप क्यों मूर्तिपूजा करते हैं ? ॥ २७ ॥

भक्त्यै शरीरतास्माकं सदेष्टं नाशरीरिता।
ब्रह्मणस्तेन नो मन्ये दूषणस्य प्रवेशनम् ॥ २८ ॥

स्वामीजीने कहा कि मैं ब्रह्मको भक्तिकेलिये शरीरी मानता हूँ, अशरीरी इष्ट नहीं। अतः कोई दोष नहीं ॥ २८ ॥

सशरीरं यदि ब्रह्म विनाशि स्यात्तदा च तत्।
घटादिवदहो श्रीमन्सशरीरत्वहेतुना ॥ २९ ॥

तर्कीने कहा, यदि आप ब्रह्मको शरीरवाला मानेंगे तो वह विनाशी हो जायगा। क्योंकि जो शरीरवाला होता है वह विनाशी देखा गया है। जैसे कि घट ॥ २९ ॥

अप्राकृतशरीरत्वादविनाशि सदैव तत्।
तादृक्छरीरताभावात्तत्ता नास्ति घटादिषु ॥ ३० ॥

स्वामीजीने कहा कि, ब्रह्मका शरीर अप्राकृत शरीर है। अतः उसका नाश नहीं होता। जहाँ-जहाँ ऐसा शरीर है वहाँ-वहाँ अविनाशित्व है। जहाँ-जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ अविनाशित्व भी नहीं है। घटपटादिमें अप्राकृतशरीरत्व नहीं है अतः वह विनाशी हैं ॥ ३० ॥

अशरीरत्वभावे स्याद्भूता सन्देशहारिता।
मुहम्मदप्रभृतीनां यत्प्रसिद्धं तवाङ्गने ॥ ३१ ॥

किंच यदि ब्रह्म अशरीरी हो तो तुम्हारे घरके सिद्धान्तानुसार मुहम्मद आदि पैगम्बर नहीं हो सकते ॥ ३१ ॥

एवं पराजितो म्लेच्छो म्लेच्छराजस्य संमतः।
स तर्की मुनिनाथस्य निपपात पदाम्बुजे ॥ ३२ ॥

इस प्रकार बादशाहका माननीय वह तक़ी वादमें भी पराजित होकर स्वामीजीके चरणोंमें पड़ गया ॥ ३२ ॥

अपराधक्षमां प्रार्थ्य शिरसा च प्रणम्य तम् ।
गलितोद्गर्वगरलो दिल्लीं प्रतिययौ तक़ी ॥३३॥

प्रणाम करके, अपराध क्षमाकराकर 'अहङ्कारहीन होकर' वह तक़ी दिल्लीको चला गया ॥ ३३ ॥

तत्र राजसमज्यायां सिकन्दरपुरो गतः ।
स यतीशस्य माहात्म्यं यथायथमशिश्रवत् ॥३४॥

वहाँ बादशाहके दरबारमें जाकर बादशाहके आगे, श्रीस्वामीजीका जैसा माहात्म्य उसने देखा था वैसा सुना दिया ॥ ३४ ॥

माहात्म्यातिशयं तस्य श्रुत्वासौ स्वगुरोर्मुखात् ।
स्वयं चाप्यनुभूयैव परमप्रीतिमाययौ ॥३५॥

बादशाह तक़ीके मुखसे स्वामीजीका माहात्म्य सुनकर तथा स्वयं भी उसका अनुभव करके बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ३५ ॥

विविधानि सुरत्नानि स्वर्णभाण्डशतानि च ।
कौशेयानि च वासांसि यतये प्रैषिषन्नृपः ॥३६॥

बादशाहने नानाप्रकारके रत्न, सोनेके पात्र, अनेकों रेशमी वस्त्र स्वामीजीकी सेवामें भेंटमें भेजे ॥ ३६ ॥

त्यक्तप्रतिग्रहः श्रीमानाशीर्वादपुरस्सरम् ।
तैरेव किङ्करैः सार्धं तत्सर्वं संन्यवीवृतत् ॥३७॥

श्रीयतिराजने आशीर्वाद देकर उन्हीं दासोंके साथ वे सब वस्तु लौटा दिये ॥ ३७ ॥

इति नैस्पृह्यमालोच्य यतिराजस्य भूमिपः ।
महादाश्चर्यमासाद्य मनसि प्रससाद सः ॥३८॥

बादशाह स्वामीजीकी इतनी निःस्पृहता देखकर, आश्चर्य पाकर मनमें प्रसन्न हुआ ॥ ३८ ॥

गमनागमने वीक्ष्य योगीन्द्रस्तदनन्तरम् ।
राजपूरुषसंघानां मेने विघ्नमिदं परम् ॥३९॥

तबसे बहुतसे राजपुरुषोंका आनाजाना देखकर श्रीस्वामीजीने सोचा कि यह बहुत बड़ा विघ्न है ॥ ३९ ॥

कश्चित्कालं प्रदेशानामटनं निश्चिकाय सः ।
शिष्यमण्डलमादाय वाराणस्याः स निर्ययौ ॥४०॥

कुछ कालपर्यंत देशाटन करनेका श्रीस्वामीजीने निश्चय किया । अतः सब शिष्योंको साथ लेकर काशीसे चल पड़े ॥ ४० ॥

एकदा भ्रमतस्तस्य महाराष्ट्रानुपेयुषः ।
सिद्धसेनगणिर्जैनसाधुः सविध आगमत् ॥४१॥

एक समय जब श्रीस्वामीजी भ्रमण करते-करते महाराष्ट्रमें आये तब सिद्धसेनगणिनामक एक जैनसाधु उनके पास आया ॥ ४१ ॥

नास्ति कोऽपि जगत्कर्ता वैदिकं वचनं मृषा ।
अनाद्यनिधनं सर्वं जगदित्यागदच्च सः ॥४२॥

उसने कहा कि, कोई भी संसारका कर्ता नहीं है । अतः जगत्को सकर्तृक कहनेवाले वेदवाक्य मिथ्या हैं । यह संसार तो सदासे ऐसा ही है और ऐसा ही रहेगा ॥ ४२ ॥

दन्तच्छटाघटादूरोत्सारितध्वान्तवैभवः ।
अनन्तवैभवोपेतस्तमुवाच यतिर्वचः ॥४३॥

श्रीस्वामीजी महाराज बोले ॥ ४३ ॥

जगतो यदि कर्तृत्वं कस्मिंश्चिद्रोचते न ते ।
नियमेन पदार्थानां समुत्पादो विपद्यते ॥४४॥

यदि तुमको किसीमें जगत्का कर्तृत्व नहीं रुचता हो तो नियमपूर्वक जो पदार्थोंकी उत्पत्ति देखनेमें आती है वह नष्ट हो जायगी ॥ ४४ ॥

यथा पथीष्टका दृष्ट्वा क्रमतः स्थापिताः क्वचित् ।
संग्रहीता भवेदासां कोपीत्युत्पद्यते मतिः ॥४५॥

जैसे मार्गमें क्रमसे स्थापित ईंटोंको देखकर यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि इनका क्रमपूर्वक स्थापन करनेवाला अवश्य कोई है । ॥ ४५ ॥

तथा क्रमेण सम्बद्धान् भवभावान्विभाव्य कः ।
मतिमान्नानुमिनुतामेषां कर्तारमादिमम् ॥४६॥

उसी प्रकारसे सांसारिक पदार्थोंको क्रमबद्ध देखकर कौन बुद्धिमान् इनके आदिकर्ताका अनुमान नहीं करेगा ? ॥ ४६ ॥

मृदम्तेजोमरुत्खेषु विकारो विहरन्सदा ।
तेषामनित्यतोद्द्योते सामर्थ्यं दधते महत् ॥४७॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशमें रहनेवाला जो विकार है वह इन सर्व पदार्थोंको अनित्य सिद्ध करने में महान् सामर्थ्य रखता है ॥ ४७ ॥

अनित्येष्वेव भावेषु नित्यत्वं यैर्निधीयते ।
बुधैस्तद्बुद्धिदौर्बल्ये कृपादृष्टिर्विधीयते ॥४८॥

अनित्य पदार्थोंमें जो नित्यबुद्धि रखते हैं उनकी बुद्धिकी दुर्बलतापर ज्ञानिजन कृपादृष्टि ही करते हैं ॥ ४८ ॥

स्याद्वादं चेत्समुद्भाव्य नित्यतानित्यते अपि ।
तनुषे त्वं पदार्थानां विद्वद्भ्यस्तन्न रोचते ॥४९॥

यदि तुम स्याद्वादका उद्भावन करके निखिल पदार्थोंमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म स्वीकार करोगे तो वह विद्वानोंको नहीं रुचेगा ॥ ४९ ॥

मिथो वैरुद्धयमापन्ना धर्मास्तु युगपत्क्वचित् ।
शक्नुवन्ति न संस्थातुमेकस्मिन्नेव धर्मिणि ॥५०॥

परस्परविरुद्ध नानाधर्म एक ही धर्मीमें एक ही कालमें कहीं भी नहीं रह सकते ॥ ५० ॥

मनुषे चेदसम्बद्धमपि ब्रूहि कुतस्तदा ।
सकर्तृकं जगन्न स्यात्तवैवास्मात्कुतर्कतः ॥५१॥

यदि ऐसे असम्बद्ध स्याद्वादको स्वीकार करते ही हो तो बताओ कि तुम्हारे ही इस कुतर्कसे जगत् सकर्तृक क्यों नहीं सिद्ध हुआ ? अर्थात् स्याद्वादकी रीतिसे जगत् अकर्तृक सकर्तृक दोनों हो सकता है ॥ ५१ ॥

किंच त्वन्मतयोस्तात मिथःकलहिनोरपि ।
फलोपधायकत्वं स्याद्धर्मयोरुभयोर्न वा ॥५२॥

किंच, तुम्हारे माने हुए परस्पर दो विरोधिधर्मोंमें फलोपधायकता है या नहीं ? अर्थात् उससे कुछ फल सिद्ध होता है या नहीं ? ॥ ५२ ॥

तच्चं चेत्प्रतिपद्येत तदा वैश्वानरैरपि ।
जलैरिव सतां स्नानं संभवेच्छान्तिदायकम् ॥५३॥

यदि उसमें अर्थोपधायकत्व है तो तुम्हारे मतमें अग्निसमूहमें उष्णत्व और शीतलत्व तथा वह्नित्व और जलत्व दोनों रहेंगे। तब तो जैसे लोग जलसे स्नान करके शीतल होते हैं वैसे ही वह्निसे भी स्नान करके उन्हें शीतल होना चाहिये ॥ ५३ ॥

स्वसा ते विधवा जाता माता ते व्यभिचारिणी ।
कन्या प्रासूत ते पुत्रमृषभो वृषभोऽभवत् ॥५४॥

कूपमण्डूकतां प्राप्ता ये जनास्त्वद्वशं गताः ।
वचनारचना तेषामेषा मा भूदरुन्तुदा ॥५५॥

तुम्हारी बहिन बहुत पति वाली है अथवा विधवा हो गयी है, तुम्हारी माता व्यभिचारिणी है, तुम्हारी कन्या (कुमारी) को पुत्र हुआ है, तुम्हारे ऋषभदेव वृषभ हो गये हैं, इत्यादिवचन तुम्हारे अनुयायियोंको व्यथित तो नहीं न करेंगे ? ॥ ५४–५५ ॥

यद्यद्विनाशि तत्कार्यं यत्कार्यं तत्सकर्तृकम् ।
जगतोऽपि विनाशित्वात्कार्यत्वं तस्य न क्षतम् ॥५६॥

जो-जो विनाशधर्मवाला है वह सब कार्य है। और जो कार्य है उसका कर्ता अवश्य है। जगत् भी विनाशि है अतः उसमें कार्यत्व अव्याहत ही है ॥ ५६ ॥

स तन्निर्माणसामर्थ्याभावक्षाराम्बुधौ ब्रुडन् ।
जीवः कर्तृपदं कस्मादारोहतु तु जातुचित् ॥५७॥

उस जगत्के निर्माण करनेकी शक्तिसे हीन जीव जगत्का कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥ ५७ ॥

अतस्तस्यविनिर्माता वैदिकैरभ्युपेयते ।
सर्वाद्भुतक्रियाशक्तिप्राज्यसाम्राज्यभुग्विभुः ॥५८॥

अत एव वैदिक लोग समस्त अद्भुत क्रिया और अद्भुत शक्तिवाले भगवान्को ही जगत्का निर्माता स्वीकार करते हैं ॥ ५८ ॥

एतदाकर्ण्य सर्वं स रागद्वेषमहाकरः ।
ऊचे पुनर्महाक्रुद्धो जिनमार्गानुधावकः ॥ ५९ ॥

वह राग और द्वेषका महान् आकर, जैनसाधु अत्यन्तक्रुद्ध होकर पुनः बोला ॥ ५९ ॥

सशरीरोऽशरीरो वा जगत्स्रष्टा प्रभुस्तव ।
शरीरित्वेऽप्यदृश्यं वा शरीरं दृश्यमेव वा ॥ ६० ॥

आपका जगत्स्रष्टा ईश्वर शरीरी है वा अशरीरी ? यदि शरीरी है तो वह शरीर अदृश्य है अथवा दृश्य ? ॥ ६० ॥

सशरीरो जगत्स्रष्टा शरीरं तच्च सर्वथा ।
दृश्यं भक्तगणैरेव निर्धूताखिलकिल्बिषैः ॥६१॥

श्रीस्वामीजीने उत्तर दिया कि जगत्स्रष्टा प्रभु शरीरी हैं। तथा वह शरीर सर्वथा समस्तदोषशून्य भक्तजनोंको ही दृष्टिगोचर होता है॥६१॥

शरीरित्वेऽन्तरेणापि तं तृणादिर्विजायते ।
कार्यत्वस्याक्षतेस्तत्र हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥६२॥

जैन साधु बोला, यदि ईश्वर शरीरी है, तो उस सशरीर ईश्वरके विना भी खेतोंमें तृण आदि उत्पन्न होते हैं। कार्यत्व तो वहाँ पर भी है ही। अतः क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वाद्, घटवत् इस अनुमानमें कार्यत्व हेतु, असद्धेतु है ॥ ६२ ॥

शरीरी स स्वशक्त्यैव यानि बीजान्यजीजनत् ।
तानि चोप्तानि भूगर्भे ह्युपयन्ति तृणद्रुताम् ॥६३॥

श्रीस्वामीजी बोले, शरीरी परमात्माने अपनी शक्तिसे जिन बीजोंको प्रथमसे ही उत्पन्न कर रखा है, वे ही पृथ्वीमें बोये जानेपर तृण, वृक्ष आदि भावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

पुत्तलीं नर्तयन् यद्वन्न पटान्तरितो नटः ।
लक्ष्यते मनुजैस्तद्वन्नाभक्तैर्दृश्यते प्रभुः ॥ ६४ ॥

जैसे पुतली नचाता हुआ नट, पटादिसे अन्तरित होनेके कारण उपलक्षित नहीं होता है, उसी प्रकार प्रभु प्रतिक्षण सब कुछ कर रहे हैं परन्तु भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त उन्हें कोई नहीं देखता है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मदर्शी यथा कश्चिज्ज्ञानी पश्यति तं नटम् ।
तथा भक्तिप्रकाशात्मा जगत्कर्तारमीक्षते ॥६५॥

जिस प्रकारसे सूक्ष्मदर्शी कोई ज्ञानिपुरुष नचाते हुए उस नटको देखता है उसी प्रकारसे भक्तिरूपप्रकाशसे परिपूर्ण आत्मा उस जगत्कर्ताको देखता है ॥ ६५ ॥

एक एवेश्वरः सोऽथ बहवो वा भवन्मताः ।
तत्त्वं सत्त्वावलम्बी त्वं ब्रूहि स्पष्टं यतीश्वर ॥६६॥

जैन साधु बोला, ईश्वर एक है अथवा अनेक ? हे यतिराज ! इसका स्पष्ट समाधान करिये ॥ ६६ ॥

सकलश्रुतिसन्दिष्टः सर्वशक्तिसमन्वितः ।
एक एव जगत्स्रष्टा मन्यते जगदीश्वरः ॥६७॥

श्रीस्वामीजी बोले, सकलश्रुतिप्रतिपादित, सर्वशक्तिमान्, जगत्का स्वामी, जगत्स्रष्टा एक ही है; अनेक नहीं ॥ ६७ ॥

कारणं किं पुरस्कृत्य वेदैर्वेदानुयायिभिः ।
एक एवेश्वरोऽस्तीति डिण्डिमो वाद्यते सदा ॥६८॥

जैन बोला, क्या कारण है कि वेद और वेदानुयायी लोग सर्वदा यह डिण्डिम बजाते रहते हैं कि ईश्वर एक ही है ? ॥ ६८ ॥

ईश्वराणां बहुत्वं चेदेकस्मिन् कार्यवस्तुनि ।
वैमत्यं सम्भवेत्तस्मादेक एवेश्वरो मतः ॥६९॥

श्रीस्वामीजी बोले, यदि अनेक ईश्वर हो तो एक ही कार्यमें विरुद्ध मत उत्पन्न होनेकी सम्भावना है । अत एव ईश्वर एक ही अभिमत है ॥ ६९ ॥

कीटिकाशतनिष्पाद्ये शक्रमूर्द्धनि दृश्यते ।
वैमत्यं नो न तत्कार्य्यहानिः काचिज्जनैरिह ॥७०॥

जैन बोला, सैकड़ों कीड़ियाँ मिलकर एक वल्मीक तैयार करती हैं; परन्तु उनमें वैमत्य नहीं देखा जाता है तथा कार्यकी हानि भी नहीं देखी जाती। ऐसे ही ईश्वर भी अनेक हो तो कोई क्षति नहीं है ॥ ७० ॥

कीटिकाशत एकस्या एवास्ति स्वामिता मता।
अन्यासां तदधीनत्वाद्वैमत्यं सम्भवेन्नहि ॥७१॥

अनन्तकीड़ियोंमें एक अधिष्ठात्री होती है और अन्य कीड़ियाँ उसके अधीन रहती हैं; अत एव वहाँ वैमत्य सम्भव नहीं है ॥ ७१ ॥

अथ केन त्वया ज्ञातं वैमत्यं नास्ति तास्विति।
अत्यल्पकीटिकाभिस्तं देवं तुलयता ऽसता ॥७२॥

तथा अत्यन्त अल्प निकृष्ट अज्ञानी कीड़ियोंके साथ उस ज्ञानस्वरूप पुरुषोत्तमकी तुलना करते हुए तुमने कैसे जाना कि उनमें परस्परविरुद्ध-मत नहीं ॥ ७२ ॥

सर्वगोऽसर्वगो वापि स च देहात्मनाऽथवा।
ज्ञानात्मनेति वक्तव्यं निपुणं निपुणात्मना ॥७३॥

पुनः जैन बोला, वह ईश्वर व्यापक है वा नहीं? यदि है, तो देहसे व्यापक है अथवा ज्ञानसे? इसे आप अच्छे प्रकारसे समझाइये ॥ ७३ ॥

सर्वगः सकलात्मासौ जगदीशो महाप्रभुः।
ज्ञानाद्यैरिति सर्वत्र शास्त्रेषु प्रतिपादितम् ॥७४॥

श्रीस्वामीजी बोले, विश्वात्मा, जगदीश्वर, महाप्रभु धर्मभूतज्ञानद्वारा, स्वरूपद्वारा तथा विग्रहद्वारा सर्वव्यापक हैं। ऐसा ही सर्वशास्त्रोंमें प्रतिपादित है ॥ ७४ ॥

विश्वतश्चक्षुरित्यादि तदा वेदो वदन् कथम् ।
न प्रकुप्यति भो विद्वन् कथङ्कारं वदेति ते ॥७५॥

जैन बोला कि, वेदोंमें तो लिखा है कि, 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतस्पात्' अर्थात् ईश्वरके चारों ओर मुख इत्यादि हैं, अर्थात् शरीरात्मना व्यापकत्व लिखा है और आप ज्ञानात्मना व्यापकत्व कहते हैं, तब आपके ऊपर वेदका प्रकोप क्यों नहीं होगा ? ॥ ७५ ॥

सर्वदर्शित्वमानन्त्यं सर्वगत्वं च सर्वथा ।
बोधयितुं प्रवृत्तायाः श्रुतेरर्थे न ते गतिः ॥७६॥

श्रीस्वामीजी बोले, इस श्रुतिका अर्थज्ञान तुम्हें नहीं है । इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि भगवान् सर्वदर्शी हैं । ऐसी कोई भी क्रिया प्राणियोंकी नहीं है जो प्रभुके ज्ञानसे बाहर हो ॥ ७६ ॥

सर्वगः स च सर्वज्ञ ईश्वरः केन बुध्यते ।
आगमैरिति चेद् ब्रूषे तद् विकल्पौ निरस्य मे ॥७७॥

जैन बोला, वह ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है यह कैसे आप जानते हैं ? यदि कहिये कि आगमों—वेदोंसे । तो मेरे विकल्पोंको दूर करिये ॥ ७७ ॥

आगमास्तत्कृताः सन्ति तद्भिन्नैर्वा कृता मताः ।
तत्कृता इति चेदस्तु तत्कृतौ का प्रमाणता ॥७८॥

वे आगम ईश्वरकृत हैं अथवा अन्यकृत ? यदि ईश्वरकृत ही हैं तो ईश्वरकी कृतिमें प्रमाणता क्या है ? अर्थात् ईश्वर यदि अपना महत्त्व प्रकट करनेकेलिये असत्य ही लिख दिया हो तो कौन जानता है ? ॥७८॥

महत्त्वक्षतिरप्येषा तस्य संजायते यते ।
न महान् स्वगुणोद्घोषे जिह्वां संचलयत्यपि ॥७९॥

यदि ईश्वरकृत वेद हैं और उनमें ईश्वरका महत्त्व वर्णित है तब तो उसके महत्त्वकी भी हानि है। क्योंकि महापुरुष स्वतः अपना गुण वर्णन करनेकेलिये जीभ नहीं हिलाते हैं॥ ७९॥

पूर्वापरविरुद्धार्थवाक्योपन्यासहेतुतः।
कुरुते स स्वयं स्वस्य सर्वज्ञत्वनिवारणम्॥८०॥

पूर्वापरविरुद्धवचनोंके निर्माता तुम्हारे ईश्वर स्वयं अपनी सर्वज्ञताका निवारण कर रहे हैं॥ ८०॥

मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्युक्त्वा पूर्वं ततः परम्।
अग्नीषोमीयमित्यादि वाक्यं तत्र निदर्शनम्॥८१॥

वेदमें प्रथम तो कहा कि किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये और उसके पश्चात् विधान किया कि अग्निषोमीयपशुका वध करना चाहिये। यह वचन पूर्वापरविरोधका उदाहरण है॥ ८१॥

उन्मत्तानां प्रलापोऽयमप्रामाण्यं ततः श्रुतेः।
ततो नास्त्येव सार्वज्ञ्ये प्रमाणं तस्य किञ्चन॥८२॥

यह वेद उन्मत्तोंका प्रलाप है अतः उसका प्रामाण्य नहीं। अत एव ईश्वरके सर्वज्ञ होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है॥ ८२॥

तदन्यैश्चेत्कृता वेदा नो ततोऽपि प्रमाणता।
रागद्वेषादिपूर्णत्वात्तेषां तस्माद्विभुर्न सः॥८३॥

यदि ईश्वरसे अतिरिक्त किसी अन्यके बनाये हुए वेद हैं तो भी उनका प्रामाण्य नहीं है। क्योंकि वेदप्रणेता रागद्वेषादिसे पूर्ण रहे होंगे। अतः किसी प्रकारसे सिद्ध न होनेके कारण ईश्वर विभु नहीं हो सकता॥ ८३॥

श्रुत्वा यतिपतिर्वाचमेतस्य च्छद्मसद्मनः।
दशनांशुप्रकाशेन तमो दूरमपाहरत्॥८४॥

श्रीस्वामीजी उस महाछलीके इस वचनको सुनकर बोले ॥ ८४ ॥

नित्यत्वादागमानां ते न प्रणीता हि केनचित् ।
सर्गादौ भगवानेव प्रादुर्भावयतीह तान् ॥८५॥

वेदोंके नित्य होनेके कारण वे किसीके बनाये हुए नहीं हैं। सृष्टिके आरम्भमें प्रभु स्वयं उनका प्रादुर्भाव करते हैं ॥ ८५ ॥

स्वगुणख्यापनार्थाय श्रुतयो न प्रवर्तिता ।
किन्तु याथार्थ्यबोधाय तेन, तस्मान्न दूषणम् ॥८६॥

उस भगवान्‌ने अपने गुणोंका वर्णन करनेकेलिये श्रुतियोंका प्रादुर्भाव नहीं किया है; किन्तु यथार्थज्ञानके निमित्त वेदोंको प्रकट किया है ॥८६॥

मा हिंस्यादिति वाक्यं तु विद्ध्युत्सर्गं तमोनिधे ।
अपवादोस्ति तस्येदमग्नीषोमीयमित्यथ ॥८७॥

'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' यह वाक्य उत्सर्ग है और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वाक्य उसका अपवाद है ॥ ८७ ॥

उत्सर्गेष्वपवादेषु नो विरोधोऽभिमन्यते ।
अन्यथा सर्वशास्त्रेषु महान् क्षोभो जनिष्यति ॥८८॥

उत्सर्ग और अपवाद वाक्यमें विरोध नहीं माना जाता है। अन्यथा सबके यहाँ उथल पुथल हो जावेगा ॥ ८८ ॥

अथोवाच पुनर्जैनो मिथ्यादृष्टिसमाहतः ।
स्वाधीनो वा पराधीनः परमेशस्तवास्ति भो ॥८९॥

वह जैन पुनः बोला, कि आपका वह परमेश्वर स्वाधीन है अथवा पराधीन ? ॥ ८९ ॥

स्वाधीनश्चेत्कथं क्रौर्यं सुखितादुःखितादिका ।
नानावस्था वितत्येह जीवानां तेन तायते ॥९०॥

यदि वह स्वाधीन है तो जीवोंको सुख और दुःख आदिकी नाना अवस्था देकर क्यों क्रूरता करता है ॥ ९० ॥

जीवकर्मपराधीना कृतिश्चेत्तस्य विद्यते ।
तदा स्वायत्तभावाय दत्त एव जलाञ्जलि ॥९१॥

यदि उस ईश्वरकी कृति भी जीवोंके कर्माधीन है तब तो उसकी स्वाधीनताकेलिये तिलाञ्जलि दे दी गयी ॥ ९१ ॥

बुद्धाबोधातिसंघातसम्पातपतिताशय ।
शकृत्कल्पं वमन् गन्धं मुखेनायात्स मौनिताम् ॥९२॥

उत्पन्न हुए अज्ञानसमूहके सम्पातके द्वारा पतित हो गया था अन्तः-करण जिसका, ऐसे उस जैन साधुने मुखसे विष्ठासमान गन्ध उगलता हुआ मौनावलम्बन किया ॥ ९२ ॥

जीवानां च यथाकर्म सुखदुःखे ददाति स ।
पारतन्त्र्यं भवेन्नेदं न्याय्यमेतदुदीर्यते ॥९३॥

श्रीस्वामीजी बोले, वह भगवान् जीवोंके कर्मानुसार उसे सुख-दुःख देते हैं। यह परतन्त्रता नहीं कही जा सकती। इसका नाम है न्याययुक्त कार्य ॥ ९३ ॥

किञ्चित्कर्तुं समीहैव साधनाभावतो यदि ।
शक्यते चेन्न तत्कर्तुं तदाऽस्वातन्त्र्यमिष्यते ॥९४॥

यदि कोई किसी कार्यके करनेकी इच्छा करके साधनोंके अभाव होनेसे उसे न कर सके तो उसका नाम पराधीनता है ॥ ९४ ॥

नैवमत्र भवेदीशे सति कर्मकुले प्रभुः ।
संबध्नाति फलैर्जीवाँस्तदभावे स नेहते ॥९५॥

भगवान्‌में ऐसा नहीं है। वह तो जब जीवोंके कर्म रहते हैं तभी

फलोंद्वारा उन्हें बाँधते हैं। कर्म न हों तो उनको बाँधनेकी उनमें इच्छा भी नहीं होती है ॥ ९५ ॥

एवं विसृष्टिनिर्माणेऽप्यस्ति नो परतन्त्रता ।
तस्य किञ्चित्परत्वं नो विद्यते जगतीतले ॥९६॥

इसी प्रकार सृष्टिनिर्माणमें भी प्रभुको पारतन्त्र्य नहीं है। संसारमें भगवान्‌केलिये पर कोई वस्तु ही नहीं है। परतन्त्रता कहाँ से आवेगी ॥ ९६ ॥

चितोऽचितः शरीराणि तस्य भान्ति शरीरिणः ।
स्वशरीरे परत्वं चेत्स्वत्वं कुत्रोपयुज्यते ॥९७॥

चित् और अचित् ये दोनों ही उस शरीरी प्रभुके शरीर हैं। यदि स्वशरीरमें भी परत्व हो तो स्वत्व कहाँ रहेगा ? ॥ ९७ ॥

सर्वथैव स्वतन्त्रोऽसौ फलदाने विभुर्मतः ।
न्यायाध्यक्षो ददद्दण्डं परवान्न निगद्यते ॥९८॥

भगवान् जीवोंके फलदानमें सर्वथा स्वतन्त्र ही हैं। न्यायाध्यक्ष अपराधीको दण्ड देता हुआ परतन्त्र नहीं कहा जा सकता ॥ ९८ ॥

ईश्वरो यदि नित्योऽस्ति जगत्सर्गस्वभाववान् ।
अथवाऽतत्स्वभावोऽसाविति स्पष्टमुदीरय ॥९९॥

जैन बोला, यदि आपका अभिमत ईश्वर नित्य है तो क्या वह त्रिभुवनकी सृष्टि करनेका स्वभाववाला होकर नित्य है अथवा सृष्टि न करनेका स्वभाववाला होकर नित्य है ? इसे आप स्पष्ट बताइये ॥ ९९ ॥

सर्गस्वभावतायुक्तः सदा चेत्सर्गनिर्मितेः ।
न स्यादुपरतिस्तस्य तत्त्वे सृष्टिर्न युज्यते ॥१००॥

यदि वह सृष्टि बनानेका स्वभाववाला होकर नित्य है, तब तो सृष्टि बनानेसे उसे कभी अवकाश ही नहीं मिल सकता। और यदि वह

सृष्टि ही बनाता रहे तो सृष्टिका होना भी युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् क्रिया समाप्त न होनेसे सृष्टि सृष्टिशब्द व्यपदेश्या नहीं होगी ॥ १०० ॥

अतत्स्वभावश्चेदीशस्तज्जगन्ति स नो सृजेत् ।
स्वभावायोगतस्तस्मात्सर्गोऽयं नोपपद्यते ॥१०१॥

तथा यदि वह सृष्टि न बनानेका स्वभाववाला होकर नित्य है तो भी वह सृष्टि नहीं बना सकता। क्योंकि वह उसके स्वभावके विरुद्ध है। अतः सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ १०१ ॥

सत्यं स नित्य एवास्ति जगल्लीलाधरो विभुः ।
तदा तत्तत्करोत्येव यदा यद्यत्समीहते ॥१०२॥

श्रीस्वामीजी बोले, तुम्हारा कथन सत्य है। जगद्रूपलीलाके धारण करनेवाले प्रभु नित्य ही हैं। तथा जब-जब चाहते हैं तब वह कर लेते हैं ॥ १०२ ॥

विसृष्टिस्थितिसंहारलीलास्वाभाव्यसंयुतः ।
जगन्नाथो महाशक्तिरनुयोज्यो न कस्यचित् ॥१०३॥

सृष्टिस्थितिसंहाररूपलीलाके स्वभावसे युक्त तथा महाशक्तिसम्पन्न वह जगन्नाथ किसीके अनुयोज्य नहीं हैं ॥ १०३ ॥

रममाणो यथा बालो बिम्बं निर्मीति तत्पुनः ।
विनाशं गमयत्येवं परमात्माऽपि चेष्टते ॥१०४॥

जैसे बालक खेलता हुआ मिट्टी आदिसे कोई बिम्ब बनाता है और पुनः बिगाड़ देता है उसी प्रकारसे लीलामयप्रभु करते रहते हैं ॥ १०४ ॥

स्वभावभेदेऽनित्यत्वं समायाति परात्मनः ।
पार्थिवं च शरीरं स्यादत्र योग्यं निदर्शनम् ॥१०५॥

जैन बोला कि कदाचित् ऐसा मानिये कि वह एक ही स्वभावसे जगत्की सृष्टि भी करता है और प्रलय भी करता है तो स्वभावके अभेद होनेके कारण सृष्टि और संहार दोनोंका यौगपद्य प्राप्त होगा। यदि स्वभावान्तरसे सृष्टिप्रलयकी निष्पत्ति स्वीकार करिये तो नित्यत्वकी हानि है। क्योंकि स्वभावभेद ही तो अनित्यताका लक्षण है। जैसे आहारपरमाणुसहकृत पार्थिवशरीरको प्रतिदिन अपूर्व-अपूर्व उत्पादनसे स्वभावभेद होनेके कारण अनित्यत्व है वैसाही ईश्वरमें भी प्राप्त होगा ॥ १०५ ॥

स्वभावभेदेऽनित्यत्वं प्राकृतेष्वेव वस्तुषु ।
नाप्राकृते परेशे तत्प्रसज्येत कथश्चन ॥१०६॥

स्वामीजी बोले कि स्वभावभेद केवल प्राकृतवस्तुओंमें ही अनित्यता-का प्रयोजक हो सकता है। अप्राकृत परमेश्वरमें यह अनित्यत्व कभी नहीं आ सकता है ॥ १०६ ॥

स्वभावभेदेऽनित्यत्वं ब्रुवता किं प्रसाधितम् ।
भेदो यत्र स्वभावस्य नास्ति तत्रास्ति नित्यता ?॥१०७॥

किंच स्वभावभेदसे अनित्यत्वका प्रतिपादन करते हुए तुमने क्या सिद्ध किया ? यह तो नहीं, कि जहाँ स्वभाव भेद नहीं है वहाँ अनित्यत्व भी नहीं है ? ॥ १०७ ॥

एवं चेदनले दोषप्रसक्तिस्त्वन्मते भवेत् ।
उष्णस्वभावासंहारात्तस्माद्भेदोऽभिदाकरः ॥१०८॥

यदि ऐसा ही हो तब तो तुम्हारे मतमें अग्निमें भी दोष आवेगा। क्योंकि अग्निका उष्णस्वभाव कभी भी नष्ट नहीं होता है। तब तो उसे तुम्हें नित्य मानना होगा। अतः स्वभाव अनित्यत्वका सर्वथा प्रयोजक नहीं है ॥ १०८ ॥

किंच प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तेः कारणद्वयम् ।
स्वार्थोऽथवानुकम्पेति कतरत्तत्र कारणम् ॥१०९॥

जैन पुनः बोला, बुद्धिमान् पुरुषोंकी प्रवृत्तिमें दो ही कारण होते हैं। एक स्वार्थ, और दूसरा दया। इन दोनोंमेंसे ईश्वरकी सृष्टिरूपप्रवृत्तिमें कौन सा कारण है ? ॥ १०९ ॥

न तावच्छक्यते वक्तुमसौ स्वार्थात्प्रवर्तते ।
कृतकृत्यतया तस्य परेशस्य यतीश्वर ॥११०॥

हे यतीश्वर ! आप यह तो कह नहीं सकते कि वह स्वार्थवश सृष्टिमें प्रवृत्त होता है। क्योंकि वह सर्वथा कृतकृत्य है ॥ ११० ॥

कारुण्यादपि नो युक्ता तत्प्रवृत्तिर्यतोऽस्ति तत् ।
परदुःखप्रहाणेच्छा सर्गाभावे न दुःखिता ॥१११॥

कारुण्यवशसे भी ईश्वरकी सृष्टिरूपप्रवृत्ति युक्त नहीं है। क्योंकि परदुःखके नाशकी इच्छाको ही कारुण्य कहते हैं। यदि सृष्टि न हो तो किसीको दुःख भी न हो। दुःख न हो तो दयाकी आवश्यकता ही नहीं है। अतः सृष्टिकी प्रवृत्तिमें यह भी कारण नहीं है ॥ १११ ॥

सर्गान्तरेषु दुःखित्वमापन्नेषु दयावशात् ।
प्रवृत्तिरेषा जीवेषु सूपपन्नेति चेन्मतम् ॥११२॥

दूसरी सृष्टिमें दुःखभावको प्राप्त हुए जीवोंपर दया करके भगवान्‌की यह प्रवृत्ति है, यदि ऐसा कहियेगा तो—॥ ११२ ॥

अन्योन्याश्रयदोषः स्यात्सृष्टिः कारुण्यतः कृता ।
कारुण्यं संभवेत्सृष्ट्या ततः सर्वं निरर्थकम् ॥११३॥

अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि कारुण्य हो तो सृष्टि करे और सृष्टि बने—जीव दुःखी हों तो कारुण्य उत्पन्न हो ॥ ११३ ॥

लीलारूपेयमीशस्य सृष्टिः कारुण्यहेतुका ।
अन्योन्याश्रयदोषस्य वत्स लेशो न विद्यते ॥११४॥

श्रीस्वामीजी बोले, भगवान्‌की लीलारूपा यह सृष्टि कारुण्यहेतुका है। तथा त्वदुक्त अन्योन्याश्रय दोषका तो गन्ध भी नहीं है ॥ ११४ ॥

जीवानामप्यनादित्वात्कर्मणामप्यनादिता ।
वस्तुन्यनादिनि प्रेक्षाऽऽदित्वस्यास्ति निरर्थिका ।११५।

जीव भी अनादि हैं और उनके कर्म भी अनादि हैं। अनादि वस्तुमें आदित्व शोधना निरर्थक है ॥ ११५ ॥

प्रवाहानादितो नित्यं पुना रात्रिः पुनर्दिनम् ।
क्रमात्प्रवर्तते यद्वत्तथा सृष्टेरपि क्रमः ॥११६॥

जिस प्रकारसे रात्रिके पश्चात् दिवस और दिवसके पश्चात् रात्रिका क्रम चला आता है और चलता रहेगा। उसी प्रकारसे सृष्टि भी प्रवाहसे अनादि है ॥ ११६ ॥

पृथिव्यादीनि वस्तूनि धारणादिक्रियां यथा ।
स्वाभाव्यात्कुर्वते तद्वदीश्वरोऽपि विचेष्टते ॥११७॥

जिस प्रकारसे पृथिवी आदिमें स्वस्वधारणादिक्रिया स्वभावसे ही है उसी प्रकारसे प्रभु भी अपनी जगन्निर्माणरूपलीला स्वभावसे ही करते हैं। उनकी प्रवृत्ति बुद्धिपूर्विका होनेसे जिस कार्य्यके उत्पादनका कारणसांनिध्य होता है उसकी उत्पत्ति करते हैं और जिसका कारणसान्निध्य नहीं है उसे नहीं बनाते। अतः सब समसञ्ज है ॥ ११७ ॥

एवं सद्युक्तिसम्पृक्तसूक्तिसञ्चयवायुभिः।
क्षिप्तस्तस्य विपक्षस्य पक्षकक्षोऽनलेऽपतत् ॥११८॥

इस प्रकारसे श्रीस्वामीजीके सुन्दरयुक्तिपूर्णवचनरूपवायुसे उड़ाया हुआ विपक्षी—जैनका पक्षरूपतृण अग्निमें पड़ गया ॥ ११८ ॥

दग्धसंशयशाखी स विषयेऽस्मिन्निरुत्तरः ।
पुनः प्रववृते जैनः शौचाचारं विनिन्दितुम् ॥११९॥

इस विषयमें निरुत्तर होकर, संशयरहित होकर, वह जैन साधु पुनः शौचाचार—पवित्रतासंरक्षणकी निन्दा करनेमें प्रवृत्त हुआ ॥ ११९ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्तीत्येवमादिक्षदादिमः ।
स्वस्यां स्मृतौ स्मृतौ ते स्याद् भूपस्ते सन्मनुर्मनुः॥१२०॥

वह जैन बोला कि, आदिराज मनुने अपनी स्मृतिमें लिखा है कि जलसे शरीर शुद्ध होता है । यह आपके स्मरणमें होगा ॥ १२० ॥

अर्थहीनेयमुक्तिः स्यादस्थिचर्मासृजान्विते ।
देहे किल्बिषगेहेऽस्मिञ्शुद्धता कास्ति वस्तुतः ॥१२१॥

मैं मानता हूँ कि वह कथन व्यर्थ है क्योंकि अस्थि, चर्म, रक्त आदि युक्त इस पापाकर देहमें वस्तुतः शुद्धता क्या हो सकती है ? ॥ १२१ ॥

स्नानमाचरताभीक्ष्णं जन्तूनां सूक्ष्मदेहिनाम् ।
नहिंसाऽचरितेत्येवं मतिमान् कोऽनुमन्यताम् ॥१२२॥

सर्वदा स्नान करनेवाले मनुष्यने सूक्ष्मशरीरवाले जन्तुओंकी हिंसा नहीं की, ऐसा कौन बुद्धिमान् मान सकता है ? ॥ १२२ ॥

आन्तरं यदि शौचं स्याद् बहिः स्यात्तच्च वा न वा ।
तत्किमर्थं जनैर्व्यर्थं वैदिकैस्तत्समुह्यते ॥१२३॥

यदि अन्तःकरणकी शुद्धता अच्छे प्रकारसे हो तो बाहरकी शुद्धता हो अथवा न हो उससे कोई फल नहीं । तो क्यों व्यर्थमें वेदानुयायी लोग बाह्य शौचाचारका पालन करते हैं ? ॥ १२३ ॥

उदरं चेन्मनुष्याणां विण्मूत्रैः सम्परिप्लुतम् ।
गुदप्रक्षालनं क्षालो हस्तयोर्मृत्स्नया मुधा ॥१२४॥

मनुष्योंका पेट तो विष्ठा और मूत्रसे भरा ही हुआ है। तो गुदप्रक्षालन मृत्तिकासे हाथ पग धोना व्यर्थ ही है ॥ १२४ ॥

दन्तानां घर्षणं दूरं तिष्ठतु क्षालनेऽप्यहो ।
महापापं प्रजायेत जीवानां मृत्युकारणात् ॥१२५॥

दाँतोंको प्रभाती (दातुन) आदिसे रगड़ना तो दूर रहा उसके धोनेसे भी महापाप होता है ? क्योंकि वहाँके जन्तु मर जाते हैं ॥१२५॥

ईषद्धास्ये यतेरास्ये श्रुत्वा तस्य वचोभरम् ।
निरासाय तदुक्तीनां रसना रसमास्पृशत् ॥१२६॥

स्वामीजी हँसकर खण्डन करने लगे ॥ १२६ ॥

केशोत्पाटपटोऽपटूवी गीर्वराकी च तावकी ।
केषां न विदुषां चित्तं दयाभावं विगाहते ॥१२७ ॥

श्रीस्वामीजी बोले, हे केशनोचनेमें चतुर ! यह तुम्हारी वराकी वाणी किन—विद्वानोंके हृदयमें दयाभाव प्रकट नहीं करती ? ॥ १२७ ॥

येन देहेन धर्म्याणि कर्माण्यर्ज्यानि सन्ति ते ।
मलोपबृंहितं कृत्वा तं कथं मन्यसे सुखम् ॥१२८॥

जिस देहसे तुमको उत्तमोत्तम धर्मकर्म प्राप्त करने हैं उसे मलपूर्ण करके तुम कैसे सुख मानते हो ? ॥ १२८ ॥

अपवित्रेण गात्रेण पवित्राणि कथं ननु ।
साधनेन हि साध्यानि सिध्यन्ति मतिसूदन ॥१२९॥

हे मतिसूदन ! अपवित्र शरीर-साधनसे पवित्र साध्य-कार्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं ॥ ? १२९ ॥

शौचमाभ्यन्तरं चास्तु बाहीकमपि तत्तथा ।
बाहीकं पूर्वसोपानमान्तरं तदनन्तरम् ॥१३०॥

आभ्यन्तर और बाह्य दोनों शौच होना चाहिये। बाह्यपवित्रता प्रथमसोपान है और आन्तरिकपवित्रता उसके आगेका सोपान है॥ १३०॥

अन्तःशुद्धिं न कुत्रापि बाह्यशुद्धिर्विबाधते ।
तत्कथं त्यज्यतेऽसभ्य भिषक्छास्त्रं द्विषन्मुधा ॥१३१॥

तथा बाह्यशुद्धि अन्तःशुद्धिमें कोई बाधा तो पहुँचाती ही नहीं है। तब हे असभ्य! वैद्यकशास्त्रके साथ द्वेष करते हुए उसे क्यों छोड़ते हो॥ १३१॥

स्वेदः संजायते देहे तव ग्रीष्मेषु तं ततः ।
वस्त्रेण प्रोञ्छितुं कस्मादुदयं याति ते मतिः ॥१३२॥

गर्मीके समयमें जब तुम्हारे शरीरमें स्वेद-पसीना उत्पन्न होता है तब उसे क्यों पोंछते हो? ॥ १३२॥

अलं मले शरीरस्थे बहूनां वसतां कुतः ।
प्रतनूनां हि जन्तूनां हिंसां हिंसां न मन्यसे ॥१३३॥

शरीरमें रहे हुए मलमें निरंतर उत्पन्न होकर रहनेवाले सूक्ष्म जीवों-की हिंसाको तुम हिंसा क्यों नहीं मानते हो? ॥ १३३॥

हिंसाश्च त्रिविधाः कल्पतरवो गुरवस्तव ।
मन्यन्ते तासु जायेत शौचाचारेषु का वद ॥१३४॥

किंच तुम्हारेलिये कल्पवृक्षसमान तुम्हारे गुरुओंने तीन प्रकारकी हिंसाका स्वीकार किया है। उन तीनोंमेंसे शौचाचारपालनमें कौन सी हिंसा होती है सो कहो? ॥ १३४॥

न प्रथमा द्वितीया वा शक्यते वक्तुमाविल ।
दोषानाधायकत्वात्तु तयोस्ते स्तः समुज्झिते ॥१३५॥

स्वरूपहिंसा और हेतुहिंसा तो कह ही नहीं सकते क्योंकि वे दोनों ही तुम्हारे मतमें दोषाधायक नहीं हैं। अतः यह दोनों तो छूट गयीं ॥ १३५ ॥

तृतीयाऽज्ञानिनामेव सविलासावतिष्ठताम् ।
गेहे नेहेहतां वासं वैदिकानां गृहे क्वचित् ॥१३६॥

अनुबन्धहिंसा मूर्खोंके ही घरमें आनन्दपूर्वक निवास करो। उसके लिये वैदिकोंके पास स्थान मत ढूँढ़ो। तात्पर्य यह है कि जिसको यह विश्वास हो कि तीर्थङ्करोंके वचन सत्य ही हैं वही तुम्हारी अनुबन्ध-हिंसाका मान करेगा ॥ १३६ ॥

शौचाचारविहीनानां शकृत्स्पृष्ट्वापि वोऽसकृत् ।
मन्वानानां निजं शुद्धं मातङ्गात्का भवेद्भिदा ॥१३७॥

शौच-पवित्रताके आचारसे रहित, विष्ठाका अनेकवार स्पर्श करके भी अपनेको पवित्र माननेवाले तुममें और चाण्डालमें क्या भेद है ॥ १३७ ॥

कामं तिष्ठतु विण्मूत्रप्रभृति प्राणिनां तनौ ।
तत्परोक्षत्वमापन्नं न घृणायै भवेन्नृणाम् ॥१३८॥

प्राणियोंके पेटमें भले विष्ठा मूत्र आदि रहे। वह परोक्ष है—प्रत्यक्ष नहीं है अतः उसमें घृणा नहीं होती ॥ १३८ ॥

उदरे मलमूत्रादि तिष्ठतीति च कः पुमान् ।
मुखेऽपि स्वे निधातुं तन्निर्लज्जः सोद्यमो भवेत् ॥१३९॥

पेटमें मल-मूत्र आदि हैं अतएव ऐसा कौन निर्लज्ज पुरुष होगा कि जो उस मल-मूत्र आदिको मुखमें भी रख लेनेका प्रयत्न करेगा ॥१३९॥

वने संजातवृद्धानां पुष्टानां दैववर्षणात् ।
दयसे चेत्तरूणां ते कुतोऽन्ने न दयालुता ॥१४०॥

वनमें जो स्वयं पैदा हुए और बढ़े, तथा वर्षाके जलसे पुष्ट हुए उन वृक्षोंपर यदि तुम दया करते हो तो अन्नके ऊपर दया क्यों नहीं करते ? ॥ १४० ॥

उन्मूल्य क्षेत्रतः सद्यो भाजा बहुविधाः कृताः ।
आनीता भोक्तुमह्नाय निर्विचार प्रवर्तसे ॥१४१॥

हे निर्विचार ! जो शाक-भाजी तत्क्षण खेतमेंसे उखाड़ कर लायी जाती है उसके खानेकेलिये तुम क्यों प्रवृत्त होते हो ? ॥ १४१ ॥

स्वादूनि यानि यानीह महार्घ्याण्यपि सोत्सुकः ।
फलानि स्वोदरे कर्तुं कथं त्वं वर्तसे सदा ॥१४२॥

सुन्दर-सुन्दर जो बहुमूल्य फल हैं उनको पेटमें रख लेनेकेलिये तुम्हारी प्रवृत्ति कैसे होती है ? ॥ १४२ ॥

तत्र चेन्न दया वत्साजस्रं स्फूर्जति ते हृदि ।
दन्तशोधककाष्ठे किं दयाधारा विधावति ॥१४३॥

हे वत्स ! जो इन सब वस्तुओंके ऊपर तुम्हारे हृदयमें दया नहीं उत्पन्न होती है तो दातुनकी लकड़ीमें दयाकी धारा क्यों बह रही है ? ॥ १४३ ॥

कूपमण्डूकतां हित्वा दुर्ज्ञानावृत्तिसंवृतः ।
तथ्यां पथ्यां च मद्वाचं तात त्वं हृदये कुरु ॥१४४॥

अज्ञानके आवरणसे आच्छादित हे तात ! कूपमण्डूकताको छोड़कर मेरे तथ्य और हितकर वचनको हृदयमें धारण करो ॥ १४४ ॥

वस्तुतस्तत्त्वतस्तावन्मतं जैनं पृथक् स्थितम् ।
तत्त्वचिन्तापरीतानां तन्मतं नरकाभिधम् ॥१४५॥

वस्तुतः जैनमत तत्त्वसे बहुत दूर है। अतः जो लोग तत्वविचार करनेवाले हैं उनकेलिये यह मत नरक समान है ॥१४५॥

हिन्दुधर्मसुधासिन्धुबिन्दुनापि कदाचन ।
न समत्वं तदाधत्ते तावकं जैनशासनम् ॥१४६॥

हिन्दु-धर्म—वैदिक-धर्मरूप सुधासिन्धुके एक बिन्दु समान भी तुम्हारा जैन मत नहीं है ॥ १४६ ॥

हिन्दवो यतयो नित्यं शौचाचारं चरन्ति तत् ।
हन्त तद्द्वेषिभिर्जैनैर्जाड्यतस्तन्निवर्तितम् ॥१४७॥

हिन्दू विरक्त—यति नित्य शौचाचारका पालन करते हैं। अतः उनके द्वेषी जैनोंने मूर्खतासे उस शौचाचारका खण्डन कर दिया ॥१४७॥

हिन्दुभिर्यतिभिर्धर्माधर्मतत्त्वविदां वरैः ।
वारीण्यपरिपक्कानि पीयन्ते शुद्धबुद्धिभिः ॥१४८॥

धर्माधर्मके तत्त्वोंको जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ, तथा निर्मलबुद्धिवाले हिन्दुयति समयानुसार कच्चा जल पीते हैं ॥ १४८ ॥

तदाचारमसोढ्वैव तद्द्वेषे बद्धबुद्धयः ।
जैनाःपक्कानि गृह्णन्ति तानि सर्वत्र साधवः ॥१४९॥

उनके आचारको न सहन करके ही उनके साथ द्वेष करनेवाले जैन-साधु सर्वदा सर्वत्र पक्का—औंटाया हुआ जल ग्रहण करते हैं ॥१४९॥

जन्तूनां सलिलस्थानां मारणायैव पक्वता ।
स्यात्कथं तत्र हिंसात्वं पश्यन्ति न जडाः खलु॥१५०॥

जलमें रहनेवाले जीवोंको मारनेकेलिये ही जल उष्ण करते हैं। तब उसमें जड लोग हिंसाविचार क्यों नहीं करते हैं ॥ १५० ॥

रागद्वेषादिसंपूर्णमानसैर्मानवैः कृतम् ।
देशकालानभिज्ञैस्त्वं मतं त्यक्त्वा पृथग्भव ॥१५१॥

रागद्वेषादिसे परिपूर्णहृदयवालों तथा देश और कालके अनभिज्ञ—मनुष्योंके बनाये मतको छोड़कर पृथक् हो जाओ ॥ १५१ ॥

ईश्वरेण समादिष्टे दिष्ट्या द्वेषादिवर्जिते ।
हिन्दुधर्मे धृतिं कृत्वा सद्गतिर्लभतां त्वया ॥१५२॥

भाग्यवश द्वेषादिवर्जित तथा ईश्वरद्वारा प्रवर्तित हिन्दुधर्म—वैदिक-धर्ममें दृढ़ता करके सद्गतिको प्राप्त करो ॥ १५२ ॥

मातृवद्वत्सला जीवनिकाये सर्वदा श्रुतिः ।
उपसृत्य सृतिं तस्यास्तत्वमाप्नुहि वत्सल ॥१५३॥

श्रुतियाँ जीवोंपर माताके समान प्रेम करनेवाली हैं। अतः उनके मार्गमें आकर तुम तत्त्वको प्राप्त करो ॥ १५३ ॥

एवं देवः क्षणादेव सक्षणो मतमक्षिणोत् ।
जैनं श्रुत्वा ततः प्रीतः स चक्रे शरणं मुनिम् ॥१५४॥

इस प्रकारसे स्वामीजीमहाराजने क्षणभरमें ही जैनमतका खण्डन कर दिया। उसे सुनकर प्रसन्न होकर सिद्धसेनगणि स्वामीजीके शरण हो गया ॥ १५४ ॥

मन्त्ररत्नं मुनेः प्राप्य पञ्चसँस्कारसंयुतः ।
भवानन्द इतिख्यातः सद्भावोऽभावयद्धरिम् ॥१५५॥

यह सिद्धसेनगणि श्रीयतिराजसे मन्त्ररत्न-श्रीराममन्त्रकी दीक्षा लेकर, पञ्चसंस्कारयुक्त होकर भवानन्दनामसे भगवान्की सेवा करने लग गया ॥ १५५ ॥

गच्छे तस्यानुगच्छन्त आसन्ये केऽपि चेतरे ।
साधवस्तेऽपि सर्वत्र शिक्षां दीक्षां प्रपेदिरे ॥१५६॥

सिद्धसेनके गच्छ = संघके जो अन्य अनुयायी उसके साथ थे उन सबोंने भी आचारशिक्षा और मन्त्रदीक्षाका ग्रहण किया ॥ १५६ ॥

एवं मुनीन्द्रचरणाः शरणागतानां,
रक्षां विधाय शुभवर्त्म समादिशन्तः ।
श्रीरामनाममहिमानमुदीरयन्तः,
प्रान्ते च तत्र सुचिरं व्यहरन्यथेच्छम् ॥१५७॥

इस प्रकारसे श्रीयतिराजने शरणागतोंकी रक्षा करके, शुभ मार्गका उपदेश करते हुए तथा श्रीरामनामके महात्म्यका प्रतिपादन करते हुए उस महाराष्ट्रप्रान्तमें अधिककालतक इच्छानुसार विहार किया ॥ १५७ ॥

सर्वत्ररामचरणाम्बुजभक्तिभाव-
स्फीताधिमौक्तिकगणैः स च भूषयित्वा ।
सर्वाञ्जनान्यतिपतिः पवितुं प्रतस्थे,
तस्मात्स्थितः श्रुतिमते पथि दाक्षिणात्यान् ॥१५८॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते
श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये सप्तदशः सर्गः ।

सर्वत्र = सर्वरक्षक श्रीरामजीके चरणकमलोंकी भक्तिके भावरूप स्थूल और सुन्दर मोतियोंसे सब जनोंको विभूषित करके श्रुतिमार्गमें स्थित यतिराजने दाक्षिणात्योंको पवित्र करनेकेलिये वहाँ से शीघ्र प्रस्थान किया ॥ १५८ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगव-
दाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैज-
यन्त्याख्यव्याख्यायां सप्तदशः सर्गः ।

अथ अष्टादशः सर्गः

अथो महीशूरपुरीं यतीश्वरो
जगाम कैश्चिद्दिवसैः कृपाकरः ।
अशेषशिष्यैः प्रयतैः प्रयततो
विभूषितैः सर्वगुणाश्रिया प्रभुः ॥ १ ॥

महाराष्ट्रदेशसे प्रस्थित होकर श्रीस्वामीजी महाराज, अपने समस्त शिष्यों सहित कुछ दिनमें महीशूर-मैसूर नगरीमें पहुँच गये ॥ १ ॥

पुरो बहिस्तत्र च रामणीयक-
श्रितां महारामभुवं ददर्श सः ।
ततः स्थितस्तत्र नरोत्तमः पुनर्न
कामयामास गमिं पुरान्तरे ॥ २ ॥

वहाँ नगरके बाहर बहुत ही सुन्दर एक बड़ा भारी उद्यान स्वामीजीने देखा ! अतः वह पुरुषोत्तम वहाँ ही ठहर गये । पुनः नगरमें जानेकी उन्होंने इच्छा नहीं की ॥ २ ॥

ततो यतीन्दोः प्रतिधाम धामस-
न्निधेः कथा व्यापदलं शुभागतेः ।
बभूवुरद्धा मुनिपादपङ्कजा-
वलोकनार्थं सकलाः समुत्सुकाः ॥ ३ ॥

स्वामीजीके मैसूरमें आनेपर घर-घर उनके पधारनेकी चर्चा होने लग गयी । सबलोग श्रीयतिराजके दर्शनकेलिये उत्कण्ठित हो गये ॥ ३ ॥

श्रुतिप्रतीताधिसमस्ततत्त्वस-
न्मणिश्रिया संकलितान्तरोऽसकौ ।

विधातुमाचार्यवरः पवित्रतां
पुरः समागादिह सद्गुणाश्रयः ॥ ४ ॥

वेदोक्त समस्त उत्कृष्टतत्त्वरूप उत्तममणिकी श्रीसे विभूषित हृदयवाले वह श्री यतिराज इस पुरीको पवित्र करनेकेलिये यहाँ पधारे हैं ॥ ४ ॥

भुजद्वयं धारयतो रमापते
रघूद्वहस्यार्चनसन्दिदिक्षिया ।
समागतोऽव्याहततर्ककर्कशो
यतीश्वरोऽस्माकमुदारभाग्यतः ॥ ५ ॥

द्विभुजभगवान् श्रीरामजीकी उपासनापूजादिके सन्देश देनेकी इच्छासे तर्कवागीश श्रीयतिराज हमलोगोंके बड़े भाग्यसे यहाँ पधारे हैं ॥ ५ ॥

सनत्कुमारादिकसंहिता हिता
अहर्निशं यस्य कलाधरोपमम् ।
यशश्चयं वर्णयितुं कृतादरः
समागतः सोऽद्य पुरीमिमां शुभाम् ॥ ६ ॥

श्री सनत्कुमारसंहिता, श्री वाल्मीकिसंहिता, अगस्त्यसंहिता आदि आगम जिनके चन्द्रसमानउज्ज्वलगुणोंका सर्वदा वर्णन करते हैं, वही श्री स्वामीजी महाराज आज यहाँ पधारे हैं ॥ ६ ॥

यदीयनामश्रवणेन मामकं
श्रुतिद्वयं प्रापदहो कृतार्थताम् ।
चिरात्पिपासाकलिते दृशावपि
निरीक्ष्य तत्पादयुगं वितृप्यताम् ॥ ७ ॥

जिनके नामश्रवणसे मेरे कान कृतार्थ हो चुके हैं उनके चरणोंके दर्शनसे दीर्घकालसे प्यासे नेत्र भी तृप्त हो जावें ॥ ७ ॥

स कोऽप्यपूर्वः परजन्मनार्जितः
सुपुण्यशाखी फलितोस्ति नोधुना ।
यतोयमागान्महसां ततिर्यतिः
स्वयं शमीशोत्र वसुन्धरावसु ॥ ८ ॥

आज पूर्वजन्मके कर्मोंद्वारा अर्जित कोई अपूर्व पुण्य–वृक्ष फलान्वित हुआ है जिसके कारण परमतेजस्वी, शमप्रधान, पृथ्वीके एकमात्र धन श्रीयतिराज यहाँ पधारे हैं ॥ ८ ॥

महेशितुस्तस्य पदाब्जदर्शनै-
र्विधूतभूयोदुरितारिसंघकाः ।
अहो भवेमाद्य विभोः कृपावशादि-
तीयमासीत्प्रतिवेश्मगीस्तदा ॥९॥

प्रभुकृपासे श्रीस्वामीजीके चरणदर्शनोंसे आज हम लोग अपने पाप-रूप महान् शत्रुओंसे छूट जावेंगे, इस प्रकारसे प्रत्येक गृहमें बात होने लगी ॥ ९ ॥

मनस्त्वमीषां मुनिनाथदर्शनेऽ-
क्रमादपारात्सुकतां समक्रमीत् ।
ततो नगर्या निरगू रयात्समे
यतीन्द्रपादानभिवन्दितुं मुदा ॥१०॥

उन नगरवासियोंका मन श्रीमुनिराजके दर्शनकेलिये अत्यन्त उत्सुक हो रहा था । अतः उनके चरणों में प्रणामकी इच्छासे सब लोग शीघ्रतासे आनन्दपूर्वक नगरमेंसे निकले ॥ १० ॥

विकस्वराम्भोजरुगाननेक्षणा
रतिभ्रमं सञ्जनयन्त्य ईक्षके ।

सहैव पत्या वरटागतिप्रभा-
तिरस्कारिण्यो ललनास्ततोऽचलन् ॥११॥

विकसितकमलसमान मुख और नेत्रवाली, दर्शकोंको रतिका भ्रम उत्पन्न कराती हुई, हंसिनीकी गतिको भी तिरस्कृत करती हुई सुन्दरललनाएँ चलीं ॥ ११ ॥

तदा न कोऽप्येवमभून्न यो गतो
विलोकनाय क्षितिदुःखहृद्यतेः ।
रुजा परायत्तजना नृवाहनै-
रुपाययुर्दर्शनलालसाभृतः ॥१२॥

उस समय नगरमें कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं था कि जो श्रीयतिराजके दर्शनकेलिये न आया हो। जो लोग रोग-पीड़ित थे वे पालकीमें बैठकर आये ॥ १२ ॥

विनोदनुन्ना अमराङ्गजा यथा
ययुः सहर्षा बटवः सहस्रशः ।
जगत्त्रयाधीश्वरपादपङ्कजं
प्रणन्तुकामाः कमनीयभावनाः ॥१३॥

सद्भाववाले छोटे-छोटे बालक-ब्रह्मचारी भी देवकुमारके समान, विनोदसे प्रेरित होकर त्रिलोकीनाथके चरणकमलोंको प्रणाम करनेकी इच्छासे सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ आये ॥ १३ ॥

स्वचक्षुषोस्तस्यमुनेः सुपङ्कज-
च्छवी पदौ स्थापयितुं मुदान्विताः ।
अगण्यपुण्यावलिलालिता ललु-
र्ललामलीलां विबुधाःसमागतेः ॥१४॥

अपने नेत्रोंमें श्री यतिराजके कमलसमानचरणोंकी स्थापना करनेके-लिये अगणितपुण्यवाले विद्वान् लोग भी वहाँ आये ॥ १४ ॥

यदा बभूवुर्भवभोगभोगिनां
व्रजोल्बणक्ष्वेडहरस्य ते यतेः ।
समीपमामोदमुपाघ्रुरुत्कटं
ततोऽभवन् कौतुकिनो ह्यलौकिकम् ॥ १५ ॥

जब वे लोग संसारके भोगरूप सर्प-समूहके भयङ्कर विषका हरण करनेवाले श्री यतिराजके समीपमें आये तो उन्होंने एक अत्यन्त उत्कट तथा अलौकिल गन्धका अनुभव किया जिससे निश्चय ही सब आश्चर्यित हो गये ॥ १५ ॥

अमन्दमानन्दमुपानयन् कुतो
मनो हरन्नेष सुगन्ध उत्थितः ।
परस्परं प्रष्टुमकल्पयन्त ते
गिरः सुदोलां रसनां निजां निजाम् ॥ १६ ॥

'अत्यन्त आनन्दको प्राप्त कराता हुआ, मनोंको हरण करता हुआ यह सुगन्ध कहाँसे आता है' यह परस्पर पूछनेकेलिये सब लोगोंने अपनी-अपनी जीभको सरस्वतीका हिंडोला बना दिया। अर्थात् परस्पर एक दूसरेसे पूछने लगे ॥ १६ ॥

अनोकहः कोपि न दृश्यते तथा
सुगन्धसूश्चोपवनेऽत्र यः क्वचित् ।
सुवीत निर्हारिणमीदृशं दृशौ
समासु चाशासु समे विचिक्षिपुः ॥ १७ ॥

इस उपवनमें तो कोई ऐसा वृक्ष नहीं है जो इस प्रकारका आकर्षक

सुगन्ध दे। ऐसा कहकर सब लोगोंने चारों ओर अपनी आँखें दौड़ायीं ॥ १७ ॥

ततोऽपि वैचित्र्यमिदं व्यलोकि तै-
स्तदन्यदह्वाय समीपमागतैः ।
स्थितो यतिर्यत्र वनाजिरे ततो
रविप्रिया भाति विभाति नो रविः॥१८॥

उसके पश्चात् लोगोंने श्रीस्वामीजीके पास आकर एक दूसरा चमत्कार यह देखा कि उद्यानके मध्यभागमें-आँगनमें जहाँ श्रीयतिराज विराजमान थे वहाँ सूर्यका तेज नहीं है, प्रत्युत छाया शोभा दे रही है ॥ १८ ॥

विचार्यते तैरिति हेतुरस्ति को
न मण्डपो नात्र वितानमप्यथ ।
स्थितो यतीशस्तदनावृतेऽम्बरे
तथापि चण्डद्युतिरत्र नाश्नुते ॥१९॥

लोग विचार करने लगे कि, यहाँ कोई मण्डप भी नहीं है, चन्द्रमा भी नहीं है, श्रीयतिराज खुली जगहमें विराजमान हैं, तो भी क्या कारण है कि यहाँ सूर्यका तेज नहीं व्याप्त हो रहा है ॥ १९ ॥

अनल्पसङ्कल्पविकल्पसङ्कुला-
न्निरीक्ष्य सर्वान्मनुजान्दिवस्पतिः ।
चिराय तेषां शमयन्स संशयं
जगाद विस्पष्टमदृश्यया गिरा ॥२०॥

इन्द्र सब लोगोंको अनेकप्रकारके सङ्कल्पसे व्याकुल देखकर उनके संशयको दूर करनेके लिये स्पष्टरूपसे, आकाशवाणी करने लगे॥ २०॥

कृत स्म मा कोऽपि सुविस्मयं हृदि
प्रतापवत्यत्र यतीश्वरे जनः ।

नरोऽस्ति नायं पुरुषोत्तमः कृपा-
वशात्पृथिव्यामवतीर्य राजते ॥२१॥

इन्द्र बोले, इन महाप्रतापी श्रीयतिराजके सम्बन्धमें कोई हृदयमें संशय न करो। यह मनुष्य नहीं हैं प्रत्युत कृपावश साक्षात् प्रभु इस पृथ्वीपर अवतार लेकर बिराजमान हैं ॥ २१ ॥

सुरद्रुमोऽदृष्टतमो वियत्यहो
निषेवते श्रीयतिपादपङ्कजम्।
अनातपस्तस्य सुगन्धसञ्चयो
मनोहरोऽप्यस्ति दिगन्तसंप्लुतः ॥२२॥

अहो! आकाशमें अदृष्ट होकर कल्पवृक्ष श्रीयतिराजकी चरणसेवा कर रहा है। उसीकी यह छाया तुम देख रहे हो तथा दिगन्तव्यापी यह मनोहर सुगन्ध भी उसीका है ॥ २२ ॥

प्रविद्य माहात्म्यमिदं विलक्षणं
यतेः प्रसेदुः सकला जनास्तदा।
तदीयसत्पङ्कजपाददर्शनैः
कृतार्थयन्ति स्म जनुस्तदात्मनाम् ॥२३॥

श्रीयतिराजके ऐसे विलक्षणमाहात्म्यको जानकर सब लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। तथा श्रीस्वामीजीके चरणकमलोंके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ करने लग गये ॥ २३ ॥

पुनर्न ईदृंशि फलानि वा न वा
फलेयुरारात्सुभगत्वसद्द्रुमे।
इति प्रकल्प्य स्वमनस्सु नागरा
दिदृक्षया प्रत्यहमस्य संगताः ॥२४॥

पुनः हमारे भाग्यरूपसुन्दरवृक्षमें शीघ्र ऐसे उत्तमफल फलेंगे या नहीं ऐसा अपने मनमें विचारकर सब नगरनिवासी प्रतिदिन श्रीस्वामीजीके दर्शनोंकेलिये आया करते थे ॥ २४ ॥

विपक्षपक्षान्परिपेष्टुमीश्वरः
समास्थिताऽऽपक्षमुदारचेतनः ।
दिशन् प्रपत्तिं रघुनाथपादयोः
परां च भक्तिं सकलेभ्य एव सः ॥२५॥

विपक्षियोंके पक्षको पेषण करनेकेलिये उदारचेता श्रीयतिराजने श्रीरामजीकी भक्ति और प्रपत्तिमात्रका सबको उपदेश करते हुए वहाँ पन्द्रहदिवसतक निवास किया ॥ २५ ॥

दिने च कस्मिँश्चिदयं महाप्रभु-
र्दिशन् प्रपत्तिं विदुषां सदस्यलम् ।
प्रपत्तिमार्गोऽस्ति मुधेति केन-
चिन्नयगादि सैवं जगदेकदेवता ॥२६॥

किसी दिन श्रीयतिराज विद्वानोंकी सभामें प्रपत्तिका उपदेश कर रहे थे उसी समय श्रीस्वामीजीसे एक विद्वान्ने कहा कि प्रपत्तिमार्ग तो व्यर्थ है ॥ २६ ॥

स नात्मनः कोपि परः परेश्वरो-
स्त्युपासनीयत्वपदं वहेत यः ।
न जीवता चात्मसु नित्यता गता
श्रुतिप्रकाशेन तिरस्कृता भवेत् ॥२७॥

तथा आत्मासे भिन्न कोई अन्य ऐसा नहीं है जो उपासनीय हो। इस आत्मामें जीवबुद्धि है वह नित्य नहीं है, प्रत्युत वेदार्थज्ञानसे वह बुद्धि दूर हो जाती है ॥ २७ ॥

विलस्यते यावदनात्मभूतया
विलासवत्याऽऽत्मनि हन्त मायया ।
अहं पराधीन इति प्रभुः पर-
स्त्विति प्ररोहेदिह तावदेव धीः ॥२८॥

यावत्पर्यन्त इस आत्मामें माया विलास करती है तावत्पर्यन्त ही यह बुद्धि रहती है कि मैं तो जीव हूँ और भगवान् मेरे प्रभु हैं ॥ २८ ॥

यदा श्रुतीनामुपदेशधारणा-
द्विनाशमायाति तु जीवतैषका ।
निवर्तते मायिकमेव नर्तनं
तदा स्वरूपं परतः परं भवेत् ॥२९॥

जब श्रुतिके उपदेश धारण करनेसे यह जीवभाव विनष्ट हो जाता है तब मायाका नृत्य अवश्य निवृत्त हो जाता है और तदनन्तर परात्पर स्वरूप हो जाता है ॥ २९ ॥

अनादिकालादयमस्ति बद्धतां
गतः परस्तावदुपाधिमायया ।
निवर्त्य तं ज्ञानवशात्पुनर्निजं
स्वरूपमेतीति मतं महात्मनाम् ॥३०॥

आदिकालसे यह आत्मा मायारूप उपाधिसे बँधा हुआ है। ज्ञानके द्वारा इस मायाको निवृत्त करके पुनः स्वरूपको प्राप्तकर लेता है ऐसा विद्वानों का मत है ॥ ३० ॥

अतः प्रपत्तिर्न च भक्तिरिष्यते
स्वरूपलाभाय कदापि धीधनैः ।

समीह्यते ज्ञानमिदं परंपरं
न चास्ति पन्था अपरो यतीश्वर ॥३१॥

आत्माको स्वरूपलाभ करनेकेलिये विद्वान् भक्ति अथवा प्रपत्तिका स्वीकार नहीं करते। किन्तु केवल ज्ञानको ही इष्ट मानते हैं। हे यतीश्वर! अन्य मार्ग नहीं है ॥ ३१ ॥

निशम्य तस्योक्तिमिमां यतीश्वरो
जगाद विद्वद्वरपूजितक्रमः ।
अयुक्तिमुक्तिं तव नानुमंस्यते
विपश्चितां तावदपश्चिमावलिः ॥३२॥

उस विद्वान्‌की इस उक्तिको सुनकर श्रीयतिराज बोले कि कोई भी विद्वान् तुम्हारे इस युक्तिहीन वचनका अनुमोदन नहीं करेगा ॥ ३२ ॥

नहि प्रमाणं बुध शास्त्रसंमत-
मभेदमाधातुमवेक्ष्यते क्वचित् ।
तयोः स्वरूपेण भिदां प्रपन्नयो-
श्चितोस्ततस्ते न वचो मनोहरम् ॥३३॥

हे विद्वान्! स्वरूपसे ही भेदको प्राप्त परमेश्वर और जीवमें अभेद-साधन करनेकेलिये शास्त्रमें कहीं भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। अतः आपका वचन समीचीन नहीं है ॥ ३३ ॥

श्रुतिष्वपि द्वेति च नित्य इत्यपि
वचःसहस्रं च तथाविधं परम् ।
निरन्तरं खेलति तन्न शक्यते
द्वयोरभेदो वदितुं चितोस्त्वया ॥३४॥

हे विबुध ! 'द्वा सुपर्णा' और 'नित्यो नित्यानाम्' इन श्रुतियोंमें भी तथा अन्यत्र भी ईश्वर और जीवके स्वाभाविक भेदके प्रतिपादक सहस्रों वचन विद्यमान हैं, अतः आप दोनोंका अभेद नहीं कह सकते ॥ ३४ ॥

महर्षिवर्यैरपि सूत्रितं स्वयं
त्वदीयपक्षक्षपणाय यत्नतः ।
अतो वचस्ते सुवचोन रोचते
विदांवरेभ्यः कथमप्यसंशयम् ॥३५॥

श्रीव्यासजीने भी तुम्हारे पक्षका खण्डन करनेकेलिये सूत्र रचे हैं। यथा 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः', 'भेदव्यपदेशाच्च', 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः', 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च', 'पत्यादिशब्देभ्यः' 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्', इत्यादि, अतः हे विद्वन्! निस्सन्देह आपका वचन विद्वानोंको नहीं रुचता है ॥ ३५ ॥

स्वयंप्रकाशत्वमपि स्वयं त्वया
निगद्य विद्येतरबन्धता कुतः ।
उपाधिवश्यत्वमथाज्ञतादिकं
प्रकल्प्यते ब्रह्मणि निर्विकारके ॥३६॥

आपके मतमें भी ब्रह्म स्वयंप्रकाश है तब पुनः अविद्याकृतबन्धन, उपाधिवश्यता, अज्ञतादिदोष निर्विकारब्रह्ममें आप कैसे कल्पित करते हैं ? ॥ ३६ ॥

यथा मदम्बा भजते हि वन्ध्यता-
मिति ब्रुवन्कोपि नरो निरक्षरः ।
भवत्यलं हास्यपदं तथा त्वम-
प्यहो कृतार्था स्ववचोविरोधिता ॥३७॥

जैसे कोई 'मेरी माता वन्ध्या है' ऐसा कहनेपर हास्यपात्र होता है वैसे ही आप भी निर्विकारमें विकार मानते हुए हास्यपदवीको प्राप्त हुए हैं। अहो स्ववचनविरोधिता कृतार्थ हो गयी ॥ ३७ ॥

सहेतुकस्तस्य नु मायया समं
चकास्ति सम्बन्ध उतास्त्वहेतुकः ।
न संभवेत्तत्प्रथमं विकल्पन-
मसत्वतस्तत्र तृतीयवस्तुनः ॥३८॥

किंच, ब्रह्मका मायाके साथ जो सम्बन्ध है वह सहेतुक है अथवा निर्हेतुक ? यदि सहेतुकसम्बन्ध आप मानेंगे तो वह ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या और ब्रह्मके अतिरिक्त उस समय तृतीय वस्तुका अभाव है ॥३८॥

द्वितीयमप्यत्र न संभवेद्बुध
निशम्यतां कारणमत्र चोदितम् ।
निवर्तको नास्त्यपरस्ततः सदा
निबद्ध एवात्र विभुर्वितिष्ठताम् ॥३९॥

द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। क्योंकि निर्हेतुकसम्बन्धको दूर करनेवाला कोई नहीं है। अतः परमात्मा सदा ही बद्ध ही रहेगा, कभी मुक्त न हो सकेगा ॥ ३९ ॥

न च स्वशक्त्यैव निवर्तयिष्यते
महानविद्यां सुतरां ततः परः ।
अपेक्ष्यते नो यदि तस्य बन्धनं
स्वतन्त्रदेवस्य न सम्भवेत्तदा ॥४०॥

वह महान्-परब्रह्म स्वशक्तिसे ही अविद्याको निवृत्त कर देगा अतः यदि अन्यनिवर्तककी आवश्यकता नहीं है, तब तो स्वतन्त्रभगवान्-का बन्धन भी सम्भव नहीं है ॥ ४० ॥

इयं परा दूषणसन्निधानता
स वेत्ति मायातनुमोशिता न वा ।
विदन्न कोपोह जनोपि वाञ्छति
विपत्तिपातं किमुतायमीश्वरः ॥४१॥

दूसरा दोष यह है कि वह ईश्वर मायाके स्वरूपको जानता है या नहीं? यदि जानता है तो कोई भी मनुष्य जान बूझकर विपत्ति नहीं चाहता है तो परमेश्वरकी तो बात ही क्या है? ॥ ४१ ॥

न वेत्ति तस्यास्तनुमित्युदीर्यते
तदा च तज्ज्ञत्वमपाकृतं भवेत् ।
अतः परं ब्रह्म तमोविनाशकं
विशेदविद्या नहि जातु सन्मते ॥४२॥

यदि यह कहो कि ईश्वर मायाके शरीरको नहीं जानता है तो उसका ज्ञत्व-ज्ञातृत्व ही तिरस्कृत हो जाता है। अतः इन सब दोषोंके कारण परमात्मामें कभी भी अविद्या प्रविष्ट नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

अविद्यया नो परमार्थवस्तुनि
प्रभूयते भावयितुं हि दूषणम् ।
त्वयोच्यतेचेदतितन्निवर्तने
प्रयासराशिर्विफलीभवेदलम् ॥४३॥

यदि कहो कि अविद्या परमार्थवस्तुमें दोष उत्पन्न नहीं कर सकती तब तो उसके दूर करनेकेलिये गुरूपसत्ति आदि सब प्रयास व्यर्थ हो जावेंगे ॥ ४३ ॥

द्वयोश्चितोऽश्चेदभविष्यदायक
भवन्मतोऽभेदतरुश्च वस्तुतः ।

समूलमच्छेत्स्यत तर्हि तं श्रुति-
विधाय नो जीवबहुत्वमञ्जसा ॥४४॥

तथा यदि आपके मतानुसार ईश्वर और जीवका अभेदरूपवृक्ष वस्तुतः होता तो श्रुतियाँ जीव-नानात्व प्रतिपादन करके उसका समूल छेदन न करतीं ॥ ४४ ॥

तथा च नित्येति वदन्त्यलं श्रुति-
र्निरस्यति प्रेष्ठ भवद्विभावितम् ।
उपाधिसम्पादित एष चेदिति
ब्रवीषि तन्मे वचनं निशम्यताम् ॥४५॥

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि वचनोच्चार करती हुई श्रुति आपके मतका तो निरास ही कर रही है। कदाचित् यह कहो कि यह बहुत्व तथा भेद उपाधिकृत है तो आगे मेरी बात सुनो ॥ ४५ ॥

लभन्त इत्यादिवचःशतेन ते
भवेद्विरोधोऽपि दुरुद्धरश्च सः ।
निवर्तिताबोधभरात्मनामपि
स्फुटं बहुत्वप्रतिपादनादिति ॥४६॥

'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥' इत्यादि उपाधिरहित अज्ञानादिशून्य आत्माओं में बहुत्वप्रतिपादक सैकड़ों वचनोंके साथ दुरुद्धर विरोध होगा ॥ ४६ ॥

अवोचदेवं वसुदेवनन्दनो-
ऽप्यहो स न त्वित्यधिमित्रमर्जुनम् ।

ततो हि ते कल्पितकल्पवल्लरी
सहायहीना न्यपतत्क्षितावधः ॥४७॥

भगवान्ने भी अर्जुनसे कहा है कि 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥' 'ये मे मतमिदं नित्यम्' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' 'योगिनःकर्मकुर्वन्ति,' 'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः, इत्यादि। इन वचनोंमें भी आत्मनानात्व अत एव भेदवादका ही प्रतिपादन है। अतः तुम्हारी कल्पित कल्पलता सहायहीना होकर नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ४७ ॥

उपाधिभेदादिति तत्स्थलेऽपि चे-
न्निगद्यते बालविमोहनं वचः।
न युज्यते तस्य विभोः कदापि भो
अनीदृगाप्यं तदकाण्डताण्डवम् ॥४८॥

यदि कहो कि इन स्थानोंमें भी उपाधिभेदसे ही बहुत्व प्रतिपादन किया है तो यह वचन बाल-संमोहन है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप विभु परमात्माको पामरजनयोग्य ऐसा अकाण्डताण्डव युक्त नहीं है। अर्थात् अज्ञान—विष—मूर्छित अर्जुन के अज्ञानकी, तात्त्विक उपदेश द्वारा विवृत्तिके समय औपाधिक—अज्ञानमय भेदभावका स्वीकार करके उपदेश देना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

निवृत्तबोधो भगवांस्तदाऽभवद्वि-
वृद्धबोधस्त्वथवेति कोविद।
चिरं विचार्यार्य्य मनीषिमानस
प्रसादनं ब्रूहि वचो विचारवत् ॥४९॥

यदि औपाधिकवादको ही स्वीकार करो तो बताओ कि उस उपदेशकालमें भगवान् स्वयं निवृत्तबोध—अज्ञानी हैं अथवा विवृद्धबोध ज्ञानवान् हैं ! इस प्रश्नको विचार कर, विचार,पूण उत्तर दीजिये ॥ ४९ ॥

विवृद्धबोधो यदि किं तदोच्यतां

स तावदध्यास इहासितुं क्षमः ।

विवृद्धदुर्बोध इति प्रमन्यते

तदाऽज्ञताताडित एव सोऽभवत् ॥५०॥

यदि शुद्धज्ञानयुक्त स्वीकार करें तो भला बताइये कि वह अध्यास भगवान्‌में कैसे रह सकता है ? यदि अज्ञानी मानो तब तो ब्रह्म अज्ञानान्धकारनिहत हो गया ॥ ५० ॥

अभेदबोधाय कृतप्रवृत्तयो

न निष्फलाः स्युः श्रुतयश्च मन्मते ।

समास्ववस्थास्वचितां चितां च त-

च्छरीरितां धत्त इतीदमिष्यते ॥५१॥

कदाचित् कहो कि अभेद स्वीकार किये बिना अभेदप्रतिपादिका श्रुतियाँ व्यर्थ हो जावेंगी तो हमारे मतमें उनको निष्फलता नहीं है । क्योंकि वह श्रुतियाँ शरीरशरीरिभावद्वारा अभेदबोधन करती हैं ॥ ५१ ॥

यथा मदीयेन स एव कारणं

स एव कार्यं श्रुतिसद्वचोभरैः ।

द्वयोरनन्यत्वविधानतो नतो

मते मदीये श्रुतितत्यनुग्रहः ॥५२॥

हमारे सिद्धान्तमें भगवान् ही कारण हैं और वही कार्य हैं । अर्थात् 'अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते । तमः परदेव एकीभूय तिष्ठति ।' अन्तः प्रवृष्टोऽजः सृजते, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' इन श्रुतियोंके सद्वचनसमुदायसे यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म कारणावस्थ और कार्यावस्थजगद्रूपसे अवस्थित है । अतः इन दोनोंके अभेदविधानसे हमारे मतमें ही श्रुतियोंका अनुग्रह है ॥ ५२ ॥

तथा च विज्ञात उदार कारणे
भवेच्च विज्ञातमपीह कार्यकम् ।
तदैकविज्ञानबलेन सिद्धयति
स्वयं मते मे निखिलानुवेदनम् ॥५३॥

तथा च, हे उदार ! कारणके ज्ञात हो जाने से कार्य ज्ञात हो जाता है । इस रीतिसे एक विज्ञानद्वारा सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा भी हमारे मतमें स्वयं सिद्ध हो जाती है ॥ ५३ ॥

निपीय तस्येति वचः सुधां मुनेः
प्रसादमासादितवान्स पण्डितः ।
नतेन मूर्ध्ना प्रणतिं विधाय त-
त्पदाम्बुजे सत्वरगत्वरोभवत् ॥५४॥

श्रीस्वामीजीके इस प्रकारके वचनामृतका पान करके वह पण्डितजी प्रसन्न हो गये । हाथ जोड़कर प्रणाम करके शीघ्र वहाँसे चले गये ॥ ५४ ॥

अमन्दमानन्दमनिन्दितो व्रजन्
पुनःसमायादधिहस्तमाशु सः ।
प्रसूनमालामधिगृह्य सोवद-
त्पदं प्रपन्नोस्मि तवेति साम्प्रतम् ॥५५॥

परमानन्दको प्राप्त होते हुए वह विद्वान् हाथमें पुष्पमाला लेकर पुनः स्वामीजीके पास आये और बोले कि अब मैं आपके चरणोंमें प्रपन्न हुआ हूँ ॥ ५५ ॥

निरर्थकं जन्म गतं मम प्रभो
न भक्तिरासेवि मया कदाचन ।

कृपानिधेस्तस्य महेश्वरीपते-
स्ततस्तनुष्वाद्य सुमङ्गलं मम ॥५६॥

हे प्रभो! मेरा जन्म निरर्थक ही चला गया। कभी भी मैंने भक्ति नहीं की। आज आप मेरा कल्याण कीजिये ॥ ५६ ॥

न जानकीनाथपदाम्बुजद्वयं
मनस्विना येन निषेवितं मुदा।
कथं स संसारमपारसागरं
तरिष्यति प्रार्थिसुरद्रुम प्रभो ॥५७॥

प्रभो! जिसने श्रीभगवान्‌के चरणोंकी सेवा न की वह इस अपार संसारसागरको कैसे तर सकेगा? ॥ ५७ ॥

अतोऽतिदीने मयि नाथ गृह्यतां
कृपालवोऽपि श्रुतिशेखरार्थवित्।
विधीयतां शीतलमाशु मानसं
षडक्षरेणातिसुधेन मे प्रभो ॥५८॥

अतः हे प्रभो! मुझ दीनपर थोड़ी भी कृपा कीजिये। समस्तवेदान्तके तत्वज्ञ! शीघ्रही सुधासे भी अधिक श्रीराममन्त्रसे मेरे हृदयको शीतल कीजिये ॥ ५८ ॥

न शक्यते सोढुमितः परं प्रभो-
र्वियोगदावानलतापतीव्रता।
अतो दयां नाथ निधेहि सत्वरं
विधेहि मां भागवतं यतीश्वर ॥५९॥

हे प्रभो! भगवद्वियोगाग्निके तापकी तीव्रता अब नहीं सही जाती है।

अतः हे नाथ ! शीघ्र दया करिये और मुझे भागवत बना लीजिये ॥५९॥

प्रबुध्य तस्योक्तिभरं स निर्भरं
यतीश्वरो नश्वरभाववैभवात् ।
विरज्य दैन्यं प्रणिपातपूर्वकं
प्रदर्शयन्तं द्विजवर्य्यमुक्तवान् ॥६०॥

श्रीयतिराजने सांसारिकनश्वरपदार्थोंसे विरक्त होकर प्रणिपातपूर्वक दीनता दिखाते हुए उन ब्राह्मणदेवके इस वचनको सुनकर कहा ॥६०॥

प्रभोः कृपापात्रमसीति दीक्ष्यसे
षडक्षरेणाद्य षडङ्गपण्डित !
निगद्य चैवं स षडक्षरामृतं
न्यपाययत्सोऽप्यपिबच्च सादरम् ॥६१॥

हे षडङ्गके जाननेवाले पण्डित ! आप प्रभुके कृपापात्र हैं अतः आज श्रीषडक्षरमन्त्रकी दीक्षा देता हूँ। ऐसा कहकर श्रीयतिराजने उन्हें श्रीराम-मन्त्रामृतका पान कराया और उन्होंने सादर पान किया ॥ ६१ ॥

सपञ्चसँस्कारमभूत्स वैष्णवो
विहाय तन्मायिपथं पथि श्रुतेः ।
चरन्सदाचारपरायणो द्विजो
महान् प्रतापी क्रमशो बभौ भुवि ॥६२॥

पञ्चसंस्कारपूर्वक वह पण्डितजी वैष्णव हो गये। और मायावादका मार्ग छोड़कर श्रुतिप्रतिपादितमार्गपर आ गये तथा वैष्णवाचारपरायण होकर, महान् प्रतापी होकर वह विद्वान् पृथ्वीपर प्रख्यात हो गये ॥६२॥

जगाम यो भाग्यभुवामधीशतां
यतेः प्रपद्यार्तिहरान् पदानिह ।

स नामधेयेन सुरेश्वरार्य इ-
त्यभूत्प्रवित्तो जनतासु तासु हि ॥६३॥

श्रीयतिराजके चरणोंमें प्रपन्न होकर इस प्रकारसे आज जो विद्वान् भाग्यशाली बने हैं वह महीशूरमें सुरेश्वराचार्य इस नामसे प्रख्यात थे ॥ ६३ ॥

प्रबुद्धपुंसां बहुशस्तदा गणो
हितं स्वकीयं सततं समिच्छताम् ।
प्रभोर्मनावेव षडक्षरे ऽक्षरे
दधावनन्यत्वधियानुरागिताम् ॥६४॥

श्रीसुरेश्वराचार्यके दीक्षित होनेके पश्चात् अनेक ज्ञानिपुरुषोंका समूह जो कि अपना हित चाहता था—सर्वेश्वर श्रीरामजीके अक्षर—अविनाशी षडक्षरमन्त्रमें ही अनन्यभावसे प्रेम करने लगा। अर्थात् बहुतसे स्त्री-पुरुष दीक्षित हुए ॥ ६४ ॥

श्रीमानेवं विनयविनतान्वैष्णवाँस्तान्विधाय,
स्त्रीपुंसान्सत्कुलसलिलजोद्द्योतिभानून्यतीन्द्रः ।
नित्यं रामे जनकतनयानन्दिते वन्दिते स-,
द्देवैर्भक्तिं त्वनुपधिमतः सम्प्रतस्थेऽनुशिष्य ॥६५॥

इस प्रकारसे स्वामीजीने उत्तमकुलोत्पन्न निर्दोष स्त्री-पुरुषोंको विनीत-वैष्णव बना कर देववन्दित श्रीजानकीजीसहित श्रीरामजीमें निष्कपटभक्ति-का उपदेश देकर वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ६५ ॥

आशीराशीन्प्रयच्छन्कतिपय-
दिवसान्वाक्सुधां पाययित्वा,
सर्वान् कृत्वा कृतार्थाञ्जलभृत-
नयनान्बोधवाङ्माधुरीभिः ।

शान्तान् कृत्वा कटाक्षान्सकल-
नरभरे विक्षिपन्संक्षिपन्स्त-
दुःखाम्भोधिं कृपायाः परमनिधि-
रयं शिष्यवृन्दैः प्रतस्थे ॥६६॥

कतिपय दिवसपर्यन्त स्ववचनामृतका लोगोंको पान कराकर, सबको कृतार्थ बनाकर, वियोगसे रोते हुए लोगोंको ज्ञानमयमधुरवचनोंसे शान्त करके, सबके ऊपर कृपा-कटाक्षसे देखते हुए, उनके दुःखोंको अल्प करते हुए, आशीर्वाद देते हुए कृपाके परमनिधि श्रीस्वामीजीमहाराज अपने शिष्यों सहित वहाँसे चले ॥ ६६ ॥

मार्गे सर्वत्र जिष्णुर्विगलित-
भवभीरश्लथाभिर्व्यथाभिः,
खिन्नाँल्लोकान्यतीशस्त्रिविध-
विषमबाधोत्थिताभिः स्थिताभिः ।
हृद्यं सर्वश्रुतीनां निखिल-
सुखकरं बोधयन्धर्ममर्म,
बद्धश्रद्धान्विधायाशमयदनुपदं
रामचन्द्रे तदर्तिम् ॥६७॥

श्रीस्वामीजी महाराजने मार्गमें सर्वत्र, त्रिविधतापोंकी विषमबाधासे उत्पन्न स्थिर और गाढ व्यथाओंसे खिन्न लोगोंकी समस्तश्रुतियोंके हृदय-प्रिय, सर्वसुखप्रद धर्मके रहस्यका बोधन करके, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें परमश्रद्धालु बनाकर उनकी पीडाको शीघ्रही शान्त कर दिया ॥ ६७ ॥

अङ्गान्वङ्गान् कलिङ्गाञ्श्रुतिपथपथिकानेष कुर्वन्मुनीन्द्रः,
श्रीजानक्याः समागाज्जनिभुवमधिकश्रीभुवं गेयगाथाम् ।

तत्रत्यानां समेषामधिहृदयपटं भक्तिभावं निषिञ्चन्,
वन्द्यो विद्याधिसम्राड्जितविबुधकुलो भूषयामास काशीम् ६८॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते
श्रीमद्रामानन्ददिग्विजयेऽष्टादशः सर्गः ।

श्रीस्वामीजीमहाराज अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग आदि देशवासियोंको वैदिक मार्गानुयायी—वैष्णव बनाते हुए, अत्यन्त शोभाधाम, प्रशस्तकीर्ति, श्रीमहाराणीजीकी जन्मभूमि श्रीजनकपुरमें पधारे । वहांके लोगोंके हृदयोंमें भक्तिभावको पुष्ट करके श्रीयतिराज काशीपुरीको सुशोभित करने लगे ॥ ६८ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराजपरमहंसपरिव्राजकस्वामि-
श्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये
स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायामष्टादशः सर्गः ।

अथैकोनविंशः सर्गः

एकदा सर्वसच्छिष्यैः सर्वविद्याविशारदैः ।
श्रीमठे मुनिशार्दूलः स्थित आसीन्मुदान्वितः ॥ १ ॥

एक समय श्रीस्वामीजी महाराज सर्व विद्याओंमें कुशल अपने योग्य-शिष्योंके साथ श्रीमठमें बैठे थे ॥ १ ॥

तदानीं सहसा तत्र श्रुता वागशरीरिणी ।
सकलैर्विस्मयाविष्टैर्मिथोलोचिविलोचनैः ॥ २ ॥

उसी समय आश्चर्ययुक्त होकर, एक दूसरेकी ओर देखते हुए सब लोगोंने एक आकाशवाणी सुनी ॥ २ ॥

खललीलामहाकीलक्लिष्टशिष्टनृणां कृते ।
कृपयावातरः श्रीमान्साकेताद्यतिशेखर ॥ ३ ॥

हे यतिराज ! दुष्टोंके दुष्टतारूपमहाकण्टकसे पीडितसज्जनोंकी रक्षा-केलिये कृपाकर आप साकेतसे अवतार लेकर पधारे हैं ॥ ३ ॥

म्लेच्छश्वापदसंत्रस्ताः परं साकेतवासिनः ।
स्वधर्मभ्रंशिता म्लेच्छैर्निशितायुधधारिभिः ॥ ४ ॥

अयोध्यावासी हिन्दु, यवनरूपहिंसकपशुओंसे अत्यन्त डरे हुए हैं। म्लेच्छोंने तलवार आदिके बलसे हिन्दुओंको स्वधर्मसे पतित कर दिया है ॥ ४ ॥

देवालया लयं यान्ति तीर्थस्थानान्यधोगतिम् ।
अस्थाने तान्यपि श्रीमन्नव्यवस्थामुपागमन् ॥ ५ ॥

देवालय और तीर्थस्थान सब नष्ट भ्रष्ट किये जा रहे हैं। सबकी अव्यवस्था हो गयी है ॥ ५ ॥

हिन्दुतन्तुक्षयं कर्तुं यन्त्रतन्त्रविचक्षणाः ।
निखिलायामयोध्यायां मार्गे यन्त्राण्ययूयुजन् ॥ ६ ॥

हिन्दुवंशका नाश करनेकेलिये यन्त्रविद्यामें कुशल यवनोंने सम्पूर्ण अयोध्यामें यन्त्रोंका प्रयोग कर दिया है ॥ ६ ॥

तदधोगमनं येषां तेषां सद्धर्मविच्युतिः ।
म्लेच्छाकृतिश्च बोभोति हठादपि मुनीश्वर ॥ ७ ॥

हे मुनिराज ! उन यन्त्रोंके नीचेसे जो हिन्दु जाते हैं वह सब हठात् धर्मसे च्युत हो जाते हैं। उनकी मुसलमानों जैसी आकृति बन जाती है ॥ ७ ॥

हिंसानृतदुराचारमहारण्यविहारिणः ।
म्लेच्छकेसरिणो नृणां बम्भ्राम्यन्ते जिघांसया ॥ ८ ॥

हिंसा, असत्य और दुराचाररूपमहाजङ्गलमें विचरनेवाले यवनरूप-सिंह मनुष्यों—हिन्दुओंको मारनेकेलिये जहां-तहां फिर रहे हैं ॥ ८ ॥

उत्पातोत्पत्तितस्तुन्नान् खिन्नानखिलमानवान् ।
त्रातुं शीघ्रं मनो धेहि त्रस्तत्राणैकसुव्रत ॥ ९ ॥

हे महाराज ! इस प्रकारके उत्पातसे व्याकुल सब मनुष्योंकी रक्षाका यत्न कीजिये ॥ ९ ॥

हिन्दवस्तेऽन्यथाऽनाथाः परधर्मपरायणाः ।
भविष्यन्ति यते हन्त हता स्याच्छ्रौतपद्धतिः ॥१०॥

नहीं तो हे यतिराज ! हिन्दु अनाथ होकर अन्यधर्मको स्वीकार कर लेंगे और वेदमार्गका नाश हो जायेगा ॥ १० ॥

इति वाचं समाकर्ण्य मुनिश्चिन्तानिशीथिनीम् ।
दन्तप्रभाचयेनाशु नाशयन्निजगाद सः ॥११॥

इस आकाशवाणीको सुनकर श्रीस्वामीजी बोले ॥ ११ ॥

भोः शिष्याः प्रियधर्माणो लब्धप्रज्ञाः कलाविदः ।
यातायोध्यां प्रयत्नेन भङ्क्त यन्त्राणि विद्विषाम् ॥१२॥

हे धर्मप्रिय, बुद्धिमान् और कलाकुशल मेरे शिष्य ! तुम लोग शीघ्र अयोध्या जाओ और यवनयन्त्रोंको तोड़ डालो ॥ १२ ॥

सर्वदोषप्रतीकारं सर्वशत्रुनिषूदनम् ।
वैष्णवं यन्त्रमादाय तत्र स्थापयताञ्जसा ॥१३॥

सम्पूर्णदोषोंको दूरकरनेवाले, सम्पूर्णशत्रुओंका नाश करनेवाले वैष्णवयन्त्रकी वहाँ शीघ्र स्थापना करो ॥ १३ ॥

तन्मार्गेणापि गच्छन्तः सर्वे वैष्णवतां ध्रुवम् ।
अन्येऽपि संव्रजिष्यन्ति तेऽपि ये यवनीकृताः ॥१४॥

उस वैष्णव यन्त्रमार्गसे जो जायँगे; सब हिन्दू हो जायँगे। तथा जो हिन्दू मुसलमान् बनाये गये हैं वह भी हिन्दू हो जावेंगे ॥ १४ ॥

पञ्चषा यतिराजस्य शिष्या दुष्टनिकर्तनाः ।
दिष्ट्या चेलुस्तदादिष्टा अयोध्यां प्रति संमदाः ॥१५॥

श्रीस्वामीजीके पाँच छः शिष्य जो कि दुष्टोंके निकंदन करनेवाले थे, अयोध्याको चले ॥ १५ ॥

द्वित्रैरहोभिराजग्मुर्मुन्यनुग्रहशालिनः ।
रमानाथपदद्वन्द्वचर्चितां तां पुरीं मुदा ॥१६॥

वे दो तीन दिनमें भगवान्के चरणोंसे पवित्र अयोध्या में पहुँच गये ॥ १६ ॥

रामपादारविन्दस्पृक्स्फुरद्रेणूच्चयोज्ज्वलाम् ।
तीरस्थहरिदाभातमहीरुहसुमश्रियम् ॥१७॥

आठ श्लोकोंमें श्रीसरयूजीका वर्णन करते हैं। भगवान्के चरणकमलके सुन्दररेणुसे शोभित, तीरके हरे-हरे शोभित वृक्षोंके शोभासे युक्त ॥ १७ ॥

श्रीरामचरणासङ्गिरजोराशिपवित्रिताम् ।
मनोभूविलसत्पापतटिनीपतिशोषदाम् ॥१८॥

भगवान्के चरणरजसे पवित्रिता, मनोरूपपृथ्वीपर पापरूपसमुद्रको सुखानेवाली ॥ १८ ॥

विहसल्लोलकल्लोलप्रसारितबृहद्भुजाम् ।
गृहायातजनातिथ्यसमाकुलितमानसाम् ॥१९॥

खूब उछलते हुए लहररूपभुजवाली, गृहपर आये हुए अतिथियोंके सत्कारकेलिये व्याकुलमनवाली ॥ १९ ॥

धर्मव्याधिमनोव्याधिबाधावृद्धिनिपीडिताम् ।
आगतापत्परीतापव्यञ्जकोद्घोषसन्तताम् ॥२०॥

धर्मके ह्राससे मानसिकपीडाकी वृद्धिके कारण दुःखिता, आयी हुई आपत्तिके परितापको व्यक्त करनेवाले शब्दोंसे परिपूर्ण ॥ २० ॥

अनन्तगुणसन्तानमहनीयपदाम्बुजाम् ।
कीर्त्यकीर्तिकलानाथकलानन्दनिधिप्रदाम् ॥२१॥

अनन्तगुणोंके कारण पूज्यचरणवाली, प्रशस्तकीर्तिरूपचन्द्रमाकी एक कलासे भी परमानन्दको प्राप्त करानेवाली ॥ २१ ॥

महादेवविरिञ्च्यादिसर्वदेवनमस्कृताम् ।
भुक्तिमुक्त्यर्थिकामाप्तिवृन्दारकमहीरुहम् ॥२२॥

शिवब्रह्मादिसर्वदेवोंसे नमस्कृत, भुक्ति और मुक्ति दोनोंके अधिकारियों की इच्छापूर्तिकेलिये कल्पवृक्षसमान ॥ २२ ॥

हरिभक्तिमहारत्नराशिरत्नाकरप्रभाम् ।
कलिदन्तावलोद्दर्पदारिवारिसमन्विताम् ॥२३॥

भगवद्भक्तिरूपमहारत्नोंके राशिसे समुद्रके समान, कलियुगरूपहस्तीके दर्पको दलन करनेवाले जलवाली ॥ २३ ॥

मातरं सरयूं नत्वा स्नानं कृत्वा समादरात् ।
रघुनाथपदन्यासपूतां ते विविशुः पुरीम् ॥२४॥

वे सब शिष्य श्रीसरयूजीमें आदरपूर्वक स्नान करके भगवान्के चरणोंसे पवित्रित अयोध्यापुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

मन्त्ररत्नारिसन्तापिप्रतापोत्कटमार्गणैः ।
मार्गयित्वा च यन्त्राणि ते सर्वाणि विचिच्छिदुः ॥२५॥

श्रीराममन्त्रके, शत्रुसंहारक—प्रतापरूपबाणोंसे शोध-शोध कर उन सब यवनयन्त्रोंको उन्होंने काट डाले ॥ २५ ॥

नियन्त्रितानि यन्त्राणि वैष्णवानि नवानि च ।
पुर्यां तस्यां यतीन्द्रस्यादिष्टैः शिष्यैः समन्ततः ॥२६॥

श्रीस्वामीजीसे आज्ञा प्राप्त किये हुए उन शिष्योंने उस अयोध्यापुरीमें चारों ओर नवीन वैष्णवयन्त्रस्थापन कर दिये ॥ २६ ॥

बलाद्वैष्णवयन्त्रस्य धर्मात्प्रच्याविता हठात् ।
यवनत्वं समापन्नाः पुनर्हिन्दुत्वमाप्नुवन् ॥ २७ ॥

वैष्णवयन्त्रके माहात्म्यसे हठात् धर्मसे पतित बनाये गये हुए, यवनधर्मको प्राप्त किये हुए हिन्दु पुनः हिन्दुधर्मको प्राप्त हुए ॥ २७ ॥

तद्यन्त्रच्छायया स्पृष्टा यवना अपि केचन ।
हिन्दुसाधर्म्यमापन्ना म्लेच्छचिह्नविवर्जिताः ॥२८॥

इन वैष्णवयन्त्रोंकी छायासे स्पृष्ट होकर कितने ही मुसलमान भी म्लेच्छचिह्नोंसे छूटकर हिन्दुओंके समान बन गये ॥ २८ ॥

तान् स्प्रष्टुं वा गृहं नेतुं न वृद्धा अनुमेनिरे ।
शिष्यैश्चायं समाचारः प्रापितो यतिकुञ्जरम् ॥२९॥

परन्तु महावृद्धोंने उन लोगोंका स्पर्श करना अथवा घरमें रखना स्वीकार नहीं किया । स्वामीजीके शिष्योंने यह समाचार स्वामीजीके पास पहुँचा दिया ॥ २९ ॥

वार्तां वार्ताहरादेतां श्रुत्वा योगिशिखामणिः ।
श्रुतीनां पारदृश्वासौ क्षणं नेत्रे न्यमीलयत् ॥३०॥

वेदोंके तत्त्वको भले प्रकार जाननेवाले योगीश्वर श्रीस्वामीजीने इस समाचारको सुनकर क्षणभरकेलिये आँखें बन्द कर लीं ॥ ३० ॥

कश्चिद्वैमानिको देवो विमानं दिव्यदर्शनम् ।
उपस्थितः समादाय यतिराजपुरस्तदा ॥३१॥

तब एक वैमानिकनामक देव परमसुन्दरविमान लेकर श्रीयतिराजके सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३१ ॥

तदारुह्य सशिष्योऽयं स्वप्रभाभिर्जगत्त्रयम् ।
पूषेव भासयँस्तूर्णं प्रतस्थे तां पुरीं प्रति ॥३२॥

श्रीस्वामीजी अपने अन्यशिष्यों सहित उसपर चढ़कर अपने प्रकाशसे सूर्यसमान तीनों लोकोंको प्रकाशित करते हुए अयोध्याकेलिये चले ॥३२॥

यतीशे प्रस्थिते पुर्यामयोध्यायां समन्ततः ।
शकुनानि प्रसन्नानि हिन्दूनां भवने बभुः ॥३३॥

जिस समय श्रीस्वामीजी चले थे उस समय अयोध्यामें हिन्दुओंके घरमें अनेकों शकुन होने लग गये थे ॥ ३३ ॥

तथा म्लेच्छकुलं तत्राशकुनानि जगाहिरे ।
सहस्राणि महानर्थसूचकानीव सर्वशः ॥३४॥

तथा यवनोंके घरोंमें महान् अनर्थकी सूचना देनेवाले सहस्रों अपशकुन होने लग गये ॥ ३४ ॥

महान्तं घोषमातन्वद्रमणीयतमं परम् ।
विमानं तत्समायातमयोध्यासविधे क्षणात् ॥३५॥

महाशब्द करता हुआ परमसुन्दर वह विमान अयोध्याके पास क्षणभरमें पहुँच गया ॥ ३५ ॥

तत्र श्रीसरयूतीरे व्योमयानं शनैः-शनैः ।
अवरोहणमारेभे लोककौतुककारणम् ॥३६॥

लोगोंको आश्चर्य प्राप्त करनेवाला वह विमान श्रीसरयूके तटपर धीरे-धीरे उतरने लग गया ॥ ३६ ॥

तन्मध्ये तं स्थितं वीक्ष्य कोटिभास्करभास्वरम् ।
भासयन्तं दिशः सर्वाः सर्वे कौतुकिनोऽभवन् ॥३७॥

उसके बीचमें करोड़ों सूर्यसमान सम्पूर्णदिशाओंको प्रकाशित करते हुए स्वामीजीको देखकर सब आश्चर्यित हो गये ॥ ३७ ॥

गगनात्प्रच्युतो भानुः प्रलयानल एव वा ।
ऊर्जितस्फूर्जथुः किं वा कुलिशः पाकशासनः ॥३८॥

क्या आकाशसे सूर्य टूट पड़ा है ? अथवा प्रलयकालकी अग्निज्वाला है ? अथवा इन्द्रका अत्यन्तशक्तिशाली वज्र है ? ॥ ३८ ॥

कादम्बिनीं विनैवाथ शम्पासम्पात ईदृशः ।
अथवा कोऽपि योगीशो लोकशोकविनाशनः ॥३९॥

अथवा मेघके विना बिजली पड़ी है ! अथवा संसारका शोक नष्ट करनेवाले कोई महान् योगीश्वर हैं ? ॥ ३९ ॥

इत्येवं तर्कयन्तस्ते कौतुकान्वितचेतसः ।
अवालुलोकिरे सर्वे विमानं भुव्युपस्थितम् ॥४०॥

इसप्रकार तर्क करते हुए, आश्चर्यित मनवाले लोगोंने पृथ्वीपर उपस्थित विमानको देखा ॥ ४० ॥

मा च भूद्दृष्टिसम्पर्को यावनस्त्विति तत्क्षणम् ।
तद्देशे रविरागत्य प्रचकाशे भृशं दिवः ॥४१॥

यवनोंकी दृष्टिका स्वामीजीके साथ सम्पर्क न हो अतः आकाशसे सूर्य तत्कालमें उस प्रदेशमें (जिधर यवन सब खड़े थे) अत्यन्त तीक्ष्णतासे चमकने लगा ॥ ४१ ॥

तत्प्रकाशेन म्लेच्छानां नायनं ज्योतिराहतम् ।
गर्वोऽपि खर्वतां यातो हा हा हेति प्रजल्पताम् ॥४२॥

उसके प्रकाशसे मुसलमानोंके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी ! हाहाकार करते हुए उन सबोंका गर्व भी नष्ट हो गया ॥ ४२ ॥

हिन्दूनां च पुरस्तत्र शीतरश्मिः कलाधरः ।
प्रकाशते स्म तस्मात्तैर्यतिपादाब्जमैक्ष्यत ॥४३॥

हिन्दुओंके आगे शीतलकिरणोंवाले चन्द्रदेव प्रकाशमान थे अतः उन्होंने स्वामीजीके चरणोंका दर्शन किया ॥ ४३ ॥

प्राक्तनात्पुण्यसंभारादागतं स्वगृहे स्वयम् ।
अर्हणीयतमं वीक्ष्य प्रससाद सरिद्वरा ॥४४॥

श्रीसरयूजी, पूर्वजन्मके पुण्योंके संयोगसे पूजनीयस्वामीजीको अपने घर आये हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥ ४४ ॥

मुनीनामपि मान्याय यतिराजाय सम्मुदा ।
तारस्वरैर्निनन्दती स्वागतं व्याजहार सा ॥ ४५ ॥

श्रीसरयूजी, श्रीयतिराजकेलिये परमानन्दसे, उच्च स्वरसे निनाद करती हुई मानो ऐसा बोलीं कि आपका स्वागत हो ॥ ४५ ॥

शीतलोल्लोलकल्लोलैः क्षालयित्वा पदाम्बुजम् ।
अमन्दानन्दपाथोधौ निमग्ना तं नुनाव सा ॥ ४६ ॥

पश्चात् श्रीसरयूजी अपने अत्यन्त चञ्चलतरङ्गोंके जलसे स्वामीजीके चरणकमलोंको धोकर परमानन्दसागरमें निमग्न होकर स्तुति करने लगीं ॥४६॥

अकुण्ठशक्ते वैकुण्ठादागत स्वसमीहया ।
विश्वम्भर महोदार कृपाकूपार ते नमः ॥ ४७ ॥

हे महाशक्तिवाले ! हे वैकुण्ठसे स्वेच्छासे पधारे हुए ! हे विश्वम्भर ! हे महोदार ! हे कृपासागर ! आपको नमस्कार हो ॥ ४७ ॥

कल्याणगुणसम्पूर्ण निर्विकार निरञ्जन !
भक्ति मार्गसमुद्धारदत्तचित्ताय ते नमः ॥ ४८ ॥

हे कल्याणगुणोंसे परिपूर्ण ! हे विकाररहित ! हे निरञ्जन ! भक्तिमार्ग-के उद्धारकेलिये दत्तचित्त आपको नमस्कार हो ॥४८॥

धर्मराज्यमहाराज दुराचारापनुत्तये ।
स्वयं स्वीकृतमानुष्यदेहबन्धाय ते नमः ॥ ४९ ॥

हे धर्मराज्यके महाराज ! दुराचारोंके नाश करनेकेलिये स्वेच्छासे मानवदेह धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥ ४९ ॥

पादारविन्दसञ्चारसंपावितवसुन्धर !
कृतार्थीकृतनिःशेषलोकलोचन ते नमः ॥ ५० ॥

चरणकमलके सञ्चारसे पृथ्वीको पवित्र करनेवाले ! स्वदर्शनसे मनुष्योंके नेत्रोंको कृतार्थकरनेवाले ! आपको नमस्कार हो ॥ ५० ॥

यदा वैदिकधर्मस्य ग्लानिर्भवति भारते ।
तदा नरतनुं धृत्वागच्छते ते सते नमः ॥ ५१ ॥

भारतमें जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, तब-तब मानवादिशरीरधारण करके पधारनेवाले आपको नमस्कार हो ॥ ५१ ॥

एवं लब्धार्हणः श्रीमान् भवतापवितापनः ।
वचः सारयवं श्रुत्वा सुप्रीतः पुरमभ्यगात् ॥ ५२ ॥

संसारके दुःखोंको नाशकरनेवाले स्वामीजीमहाराज इस प्रकार पूजित होकर, सरयूजीके वचन सुनकर, प्रसन्न होकर पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ ५२ ॥

हिन्दूँस्तत्रागतान्सर्वानुद्दिश्य यतिकुञ्जरः ॥
हासयन् हृदयाम्भोजकुड्मलानि जगाद सः ॥ ५३ ॥

स्वामीजी अपने पास आये हुए सब हिन्दुओंके हृदयकमलकी कलीयोंको खिलाते हुए बोले ॥ ५३ ॥

भव्या निवचनेकृत्याऽऽकर्णयेत वचो मम ।
युष्मद्भद्रस्य पन्थानं स्पष्टतः प्रब्रवीम्यहम् ॥ ५४ ॥

हे भव्यपुरुषो ! ध्यान देकर मेरी बातको सुनो ! तुम्हारे कल्याणके मार्गको मैं स्पष्टरीतिसे कहता हूँ ॥ ५४ ॥

यस्यां जातौ समाजे वा यस्मिंस्तिष्ठति केवलम् ।
शक्तिर्वियोजनस्यैव चिरंजीवेन्न सा न सः ॥ ५५ ॥

जिस जातिमें अथवा जिस समाजमें केवल पृथक् करनेकी शक्ति है वह जाति और वह समाज चिरकाल तक नहीं जी सकता ॥ ५५ ॥

नोदरेऽन्नं स्थिरीकर्तुं शक्तो वमति यः सदा ।
यथा तस्य चिरायुष्ट्वं नास्ति तस्यापि तत्तथा ॥ ५६ ॥

किसी वस्तुको न पचानेवाले और सदा वमन करनेवाले पुरुषको जैसे चिरायु नहीं होती, उसी प्रकार उस जाति और समाजकी दशा हो जाती है ॥ ५६ ॥

अयं तु प्रथमः पादः कलिकालस्य वर्तते ।
तारुण्ये भविता यद्यत्सहिताध्वे कथं च तत् ॥५७॥

अभी तो यह कलियुग प्रथम ही चरण है । इसकी जवानी में जो २ होगा उसे कैसे सहन करोगे ? ॥ ५७ ॥

आश्रयेदग्रिमे काले परदारासनादिभिः ।
द्यूतैर्दम्भैः सुरापानैर्मत्स्यमांसादिभक्षणैः ॥५८॥
असत्यभाषणैः क्रौर्यैस्तथा तस्करतादिभिः ।
अकृत्यकरणैश्चान्यैर्दोषैरेतान्विधर्मिता ॥५९॥

भविष्यकालमें परस्त्रीगमन, जूआ, सुरापान, मत्स्यमांसादिभक्षण, असत्यभाषण, चोरी आदि अनेक अकृत्यकरण द्वारा अनेकों दोषोंसे हिन्दुओंमें विधर्मिता आवेगी ॥ ५८–५९ ॥

परदारेषु मातृत्वं परद्रव्येषु लोष्टता ।
सर्वभूतेषु वा साम्यमग्रे सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥६०॥

परस्त्रीमें मातृबुद्धि, परद्रव्यमें लोष्टबुद्धि, सर्वप्राणियों में समभाव ये सब भविष्यमें नष्ट हो जायँगे ॥ ६० ॥

एतद्दोषग्रहग्रस्ताः स्युश्चेत्सर्वे बहिष्कृताः ।
हिन्दुजातिस्तदा तिष्ठेत्कथं भूमौ विचार्यताम् ॥६१॥

इन सब दोषोंमें ग्रस्त सबही हिन्दु यदि जातिसे बहिष्कृत कर दिये जावें तो पृथ्वीपर हिन्दु जाति कैसे रह सकेगी इसका विचार करो ॥६१॥

कथं वा वेदरक्षा स्यात्कथं देवादिपूजनम् ।
कथं श्राद्धसदाचारः कथं तीर्थाभिरक्षणम् ॥६२॥

कैसे वेदोंकी रक्षा होगी ? देवादिकोंका पूजन कैसे होगा ? श्राद्धादि कैसे होंगे ? तीर्थोंका रक्षण कैसे होगा ? ॥ ६२ ॥

गवादिप्राणिनां रक्षा कथंकारं भविष्यति ।
सतीत्वस्यापि नामात्र स्मर्तव्यपदवीं व्रजेत् ॥६३॥

गो आदि प्राणियोंकी रक्षा कैसे होगी ? सतीधर्म भी देखनेको न मिलेगा ? भूतकालकी वस्तु हो जावेगी ॥ ६३ ॥

एते ये चाद्य युष्माभिस्त्यज्यन्ते ते न दूषिताः ।
बलात्कारेण पातित्यं पातित्यं तन्न संमतम् ॥६४॥

और जिनलोगोंका तुम त्यागकर रहे हो ये दूषित नहीं हैं; क्योंकि ये तो यन्त्रबल से हठात् पतित बनाये गये हैं । अतः बलात्कारका पातित्य पातित्य ही नहीं है ॥ ६४ ॥

निपीय यतिराजस्य वचनामृतमादरात् ।
केचित्सप्रश्रयं प्राहुरित्येवं नीतिमत्तया ॥६५॥

श्रीस्वामीजीके इसप्रकार वचनामृतका पानकरके नीतिमत्तासे नम्रतापूर्वक कितने लोगोंने ऐसा कहा ॥ ६५ ॥

आयोध्यका द्विजश्रेष्ठा यद्येषां भुञ्जते गृहे ।
जलमाददते चापि गृह्णीमस्तांस्तदा वयम् ॥६६॥

यदि अयोध्याके ब्राह्मण इनके घरमें भोजन करें, इनका जलग्रहण करें तो इनको हम जातिमें ले लेंगे ॥ ६६ ॥

क्रियतामेवमित्युक्ते मुनिवर्येण तत्क्षणम् ।
तत्रत्या ब्राह्मणाः सर्वे न्यमन्त्रयन्त सुखेन तैः ॥६७॥

स्वामीजीने कहा कि अस्तु, ऐसाही करो । उन लोगोंने उसी समय वहाँके ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दिया ॥ ६७ ॥

कैश्चित्सन्देहिता विप्रा नितरां धर्मभीरवः ।
भोक्ष्यामह इति प्रोच्य नागता समये हि ते ॥६८॥

उन धर्मभीरुब्राह्मणोंको किन्हींने सन्देहमें डाल दिया अतः आनेकी प्रतिज्ञा करके भी भोजनके समय नहीं आये ॥ ६८ ॥

महाद्रव्यव्ययेनैव सामग्रीयं सुसज्जिता ।
चिन्तेयं महती जाता सर्वेषां किं भवेदिति ॥६९॥

सबको वह चिन्ता हो गयी कि बहुत धनव्यय करके यह सब भोजनकी सामग्री एकत्रित की गयी है, अब क्या होगा ॥ ६९ ॥

चिन्ताव्यालीभयाक्रान्तास्तेऽभ्यधायिषताधुना ।
मुनिनाथेन पात्रेषु भोजनं परिवेष्यताम् ॥७०॥

श्रीस्वामीजीने, चिन्तारूपसर्पिणीके भयसे आतुर उन मनुष्योंको कहा कि पात्रोंमें तुम लोग भोजनको परसो ॥ ७० ॥

प्रत्येकं विप्रवर्याणां तदा द्वित्वमिवाभवत् ।
हठादेको गृहे चैकस्तत्र भोक्तुं समागतः ॥७१॥

उस समय अयोध्याके सब ब्राह्मणोंको द्वित्व हो गया। एकके दो-दो हो गये। एक शरीरसे तो वह लोग घर पर रहे और दूसरे शरीरसे वहाँ हठात् भोजन करने आये ॥ ७१ ॥

भुञ्जानं कश्चिदालोक्य तत्र कश्चिद्गृहं गतः।
तत्रापि तं समालोक्य महदाश्चर्यमाप्तवान् ॥७२॥

कोई किसीको वहाँ भोजन करते देखकर उनके घर गया। वहाँ भी उन्हें देखकर वह बहुत चकित हुआ ॥ ७२ ॥

सर्वे सर्वानलोकन्त भुञ्जानांस्तत्र तद्गृहे।
किमेतदभवत्तन्न विजानीमस्त ऊचिरे ॥७३॥

सबने सबको उन पतितपरावर्तितहिन्दुओं के घरमें भोजन करते हुए देखा। वे बोले कि, यह क्यों हुआ सो हमलोग नहीं जानते ॥ ७३ ॥

एवं तेषु ब्रुवाणेषु नभोवाणी व्यजायत।
यतिराजं मनुष्यं मा मनुध्वं हरिरेष हि ॥७४॥

जब सब ब्राह्मण ऐसा बोलने लगे तब आकाशवाणी हुई कि तुम लोग श्रीस्वामीजीको मनुष्य मत मानना। यह तो साक्षात् हरि हैं ॥७४॥

इदमाश्चर्यमालोक्य वाचं चाकर्ण्य नाभसीम्।
हरिं मनसि कृत्वा तं पेतुस्ते तस्य पादयोः ॥७५॥

इस प्रकारका आश्चर्य देखकर, आकाशवाणीको सुनकर स्वामीजीको निश्चय ही प्रभु जानकर सब उनके चरणों में पड़ गये ॥ ७५ ॥

वशे वर्तामहे तेऽद्य यथेच्छमनुशाधि नः।
विधिवत्कर्तुमिच्छामस्तव वाचां हि वेदता ॥७६॥

हे भगवन्! हम सब आपके वशवर्ती हैं। जैसी इच्छा हो आज्ञा कीजिये। विधिवाक्य मानकर उसे हम लोग करेंगे। क्योंकि आपकी वाणी ही तो वेद है ॥ ७६ ॥

अनुसृत्य मुनेराज्ञां धर्मशास्त्रानुसारिणीम् ।
पतिताञ्जगृहुः सर्वे युगमर्यादयापि ते ॥७७॥

धर्मशास्त्रानुसार मुनिराजकी उस आज्ञाको सुनकर तथा कालमर्यादा-विचार करके सबने उन पातित्यसे शुद्ध हुए हिन्दुओंको ग्रहण कर लिया ॥ ७७ ॥

विष्णुयन्त्रप्रतापेन ये ऽप्यन्ये हिन्दुतां गताः ।
तेऽपि हिन्दुषु संलीना इति प्राह पुराणकृत् ॥७८॥

विष्णुयन्त्रके प्रतापसे जो अन्य लोग भी हिन्दू हो गये थे । वह भी हिन्दुओंमें मिल गये ऐसा व्यासजीने भविष्यपुराणमें कहा है ॥ ७८ ॥

ये म्लेच्छयन्त्रबलतो यवना बभूवु-
र्हिन्दून् विधाय सकलानपि तान्मुनीशः ।
शुद्धां मतिं हरिपदे हृदि सन्दृढय्य,
काशीं स्वशिष्यसहितः पुनरागतोऽसौ ॥७९॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामि श्रीभगवदाचार्य्य–विरचिते श्रीमद्भगवद्रामानन्ददिग्विजय एकोनविंशः सर्गः

श्रीस्वामीजीमहाराज इस प्रकार म्लेच्छोंके यन्त्रबलसे मुसलमान् बनाये गये हुए समस्त हिन्दुओंको वैष्णवमन्त्रसे पुनः हिन्दू बनाकर भगवान्के चरणोंमें उनकी उत्तमबुद्धि दृढ़ कराकर स्वशिष्यों सहित काशीजी में आ गये ॥ ७९ ॥

इति सारस्वतसार्वभौम–पण्डितराज श्रीपरमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्रीभगवदाचार्य्य–विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायामेकोनविंशः सर्गः ।

अथ विंशः सर्गः

यतिराज उवास ततः सकलैः
सकलैर्निजशिष्यगणैः सुगुणैः ।
अधिकाशि बहिर्न विकासिसरो-
रुहपादयुगं निदधे च ततः ॥ १ ॥

इस यात्राके पश्चात् श्रीस्वामीजी अपने समस्त गुणिशिष्योंके सहित काशीमें रहने लगे और तबसे पुनः कभी भी काशीसे बाहर नहीं पधारे। यहाँसे ११वें श्लोक तक तोटक छन्द है ॥ १ ॥

विनता जनता सततं सुततां
यतिराजमुखेन्दुवचःसुसुधाम् ।
परिपीय निपीय च नेत्रभरै-
रतिहर्षभरैश्चरणौ शुशुभे ॥ २ ॥

वहाँकी विनयसम्पन्नजनता निरन्तर श्रीयतिराजके मुखेन्दुसे प्रवाहित वचन-सुधाका पान करके तथा अनिवेष दृष्टिसे उनके चरणोंका दर्शन करके शोभने लगी ॥ २ ॥

सफलं न भवेद्यदि नैति यतिः
करुणारससाररसारसिकः ।
नरजन्म मदीयमिति स्फुटति
स्म नृणां सुखतो मुखतः प्रवचः ॥३॥

वहाँके सब लोगोंके मुखसे यही वचन निकलता था कि यदि करुणारसके साररूप रसाके रसिक श्रीस्वामीजी महाराज यहाँ न पधारे होते तो हम लोगोंका जन्म सफल न होता ॥ ३ ॥

उपदेशरविं प्रकटय्य मुदाऽखिल-
पापनुदा यतिभूपतिना ।
सुपथे नयतोदितभाग्यकला-
न्सकलान्नयतो निरकाशि तमः ॥ ४ ॥

अखिलपापोंके नाश करनेवाले, श्रीयतिराजने उपदेशरूपसूर्यको प्रकाशित करके सौभाग्यशीलजनोंको सुन्दरमार्गमें ले जाते हुए वेगसे अज्ञानान्धकारको निकाल दिया ॥ ४ ॥

अथ केसरभूभुव एयुरिला
परमेशमवेक्षितुमादरतः ।
षडधीतिचणा निपुणाः कवयः
स्तुतिमारचयन्निति तेऽथ तदा ॥ ५ ॥

एक दिन पृथ्वीपर पधारे हुए परमेश्वर-श्रीस्वामीजीके दर्शनार्थ कश्मीरके छ विद्वान् आये। ये सब कवि थे। अतः ये इस प्रकारसे स्तुति करने लगे ॥ ५ ॥

यतिराज यशस्ततिरत्र तव
द्विजराजकलाधवला विमला ।
सततं विलसच्छविरातनुते
न हि कस्य हृदीश रतिं सुनुता ॥ ६ ॥

हे श्रीयतिराज! हे ईश! चन्द्रकी कलासमानधवल, निर्मल, सर्वप्रशस्त तथा सुन्दरकान्तिवाली आपकी कीर्ति किसके हृदयमें अनुराग नहीं उत्पन्न करती है? ॥ ६ ॥

हरिदश्व इतो हरिदश्व इवास्ति
शिखीवशीखी यतिराज तथा ।

भवदीयसुतेज इतित्रिजगद्भवदीय
सुतेज इवास्ति परम् ॥ ७ ॥

हे यतिराज ! जिस प्रकारसे सूर्यकी उपमा केवल सूर्य है तथा जैसे अग्निकी उपमा केवल अग्नि है। उसी प्रकारसे तीनों लोकोंमें प्रख्यात आपके सुन्दर तेजकी उपमा केवल आपका सुन्दर तेज ही है ॥ ७ ॥

सुधियि त्वयि धीरिव शक्तिरहो
विलसत्यथ शक्तिरिवैव सुधीः ।
शमिता दमितेव यतिक्षितिभृद्
दमिता शमितेव लसत्यनिशम् ॥८॥

हे श्रीयतिराज ! आपमें बुद्धिके समान शक्ति और शक्तिके समान बुद्धि विलास कर रही है। तथा आपमें शमिताके समान दमिता और दमिताके समान शमिता विराज रही है ॥ ८ ॥

तव तेज इव द्युमणेर्दिवि तत्पर-
मास्त च तत्परमस्तमितम् ।
तव भीतिभरैरिव कृष्णपृषत्
समजन्यधिकं विजयस्व चिरम् ॥ ९ ॥

आपके तेजके समान आकाशमें परम् = केवल सूर्यका तेज था परम् = परन्तु वह तेज नष्ट हो गया। तथा सूर्य आपके भयसे काले बिन्दुओंवाला हो गया अतः आपका सर्वथा विजय हो ॥ ९ ॥

वहसे किमु गर्वमधीरमते
रजनीरमण प्रतिसुन्दरताम् ।
अधिभूमि विराजति योगिवरा-
नन इत्थमुदेति यतेऽत्र रवः ॥१०॥

हे मन्दमतिचन्द्र ! पृथ्वीपर श्री स्वामीजीके सुन्दरमुखके विराजते हुए तू अपनी सुन्दरताके प्रति क्यों गर्व धारण करता है, इस प्रकारसे चारों ओर लोग बोल रहे हैं ॥ १० ॥

यतिराज पदाब्जयुगं यदि ते,
कृतिभिर्नयनैः परिपीतमथ ।
स्वदितं वचनामृतमास्वदितं,
सुधया किमु वा किमु पद्मकुलैः ॥११॥

हे श्रीयतिराज ! यदि भाग्यशालिजनोंने अपने नेत्रोंसे आपके चरण-कमलका दर्शनकर लिया तो उनके लिये कमल व्यर्थ है । तथा जिन्होंने परमास्वादयुक्त आपके वचनामृतका आस्वादन किया है उनके लिये अमृत व्यर्थ है ॥ ११ ॥

गुरोः सुराणामभवद्य एष
सुरेषु नैकोपि विचक्षणोऽस्ति ।
मया समं क्वास्तु नरेषु तावद्व्य-
वस्थिते त्वय्ययनशत्स गर्वः ॥१२॥

बृहस्पतिको जो यह गर्व हो गया था कि मेरे समान जब देवोंमें कोई विद्वान् नहीं है तो मनुष्योंमें तो कहाँसे होगा । यह गर्व आपके रहते रहते गल गया । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ १२ ॥

प्रभो जगत्यद्य मुधा सुधाकरो-
ऽभवद्यतस्ते त्रिजगद्विलासिनी ।
प्रसादयन्ती हृदयं निरन्तरं
चकास्ति कीर्तिर्भवदोषहारिणी ॥१३॥

हे प्रभो ! आज संसारमें केवल इस एक लोकमें ही विलास करनेवाला, केवल रात्रिमें लोगोंके हृदयको प्रसन्न करने वाला और केवल तमोरूप

दोषको हरण करनेवाला चन्द्रमा व्यर्थ हो गया। क्योंकि आपकी कीर्ति तीनों लोकोंमें विलासकरनेवाली, रात्रिन्दिवा सबके हृदयोंको प्रसन्न करनेवाली तथा भवके समस्त दोषोंको हरण करनेवाली शोभित हो रही है। वंशस्थविल छन्द ॥ १३ ॥

निरस्तदोषो भवतीह मानुषः
स एष चक्षुःसरसीरुहेण यम्।
कटाक्षयस्याशु यतीश्वरात्मनः,
कृपालवेनापि सकृत्कृपाकर ॥१४॥

हे श्रीयतिराज! कृपाके भण्डार! इस जगत्में वह मनुष्य सर्वथा दोषशून्य होजाता है जिसे आप कृपाके एकलेशमात्रसे भी और एक बार भी अपने कटाक्षका पात्र बना लेते हैं। वंशस्थविल छन्द ॥ १४ ॥

सर्वेशं परिमन्वते यतिपते विद्वद्वराः सद्वराः,
साक्षाच्छङ्करमेव ते विदधते ये शाङ्कराः किङ्कराः।
तीर्थेशं विजिता जिनाश्च यवनाः कालं करालं तथा,
किं ब्रूमो भगवन् गुरुं च गुरवस्त्वां स्वेच्छया योगिराट् ॥१५॥

हे यतिपते! जो महात्मापुरुष हैं वह तो आपको श्रीभगवद्रूपसे देखते हैं, जो श्रीशंकरजीके भक्त हैं वह आपको शिवरूप देखते हैं, कितनी ही बार पराजित जैन लोग आपको तीर्थङ्करकी दृष्टिसे देखते हैं, यवन लोग भयङ्करकालकी दृष्टिसे देखते हैं, हे भगवन्! मैं अधिक क्या कहूं, संसारके सभी गुरुजन आपको स्वेच्छापूर्वक गुरुरूप मानते हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १५ ॥

सुधा वचस्ते न सुधा सुधाधुना,
निपीय यां मृत्युपथात्पृथग्जनाः।

अपि प्रपद्यन्त इतोऽनघास्तवा-
धिधामनीताः सपदीश धाम तत् ॥१६॥

हे प्रभो! अब सुधा नहीं है प्रत्युत आपकी वाणी ही सुधा है। जिसे पान करके नीचजन भी निष्पाप होकर, उत्कृष्ट तेजको प्राप्त कराये हुए शीघ्र ही आपके उस धाममें पहुँच जाते हैं। वंशस्थविल छन्द ॥ १६ ॥

त्वत्तः प्राप्य पराजयं यतिपते जैना धुनानाः शिरः,
पृष्टाः कैश्चि, दिदं किमस्ति, वदत, ग्रस्ताः परेतैश्च किम्?
तापेनात्र निपीडिता? ज्वरलज्ज्वालालिलीढाश्च वा?
रामानन्दयतिप्रतापतपनोत्तापैरिति प्रोच्यते ॥१७॥

हे प्रभो! आपके प्रतापसे जैनियोंकी बुरी दशा हो गयी है। वे लोग आपसे पराजित होकर दुःखसे मस्तक हिलाते रहते हैं। यदि कोई पूछता है कि यह तुमको क्या हुआ है—क्या भूत तो नहीं लगा है? अथवा उष्णता तो नहीं पीडित कर रही है? अथवा ज्वरकी ज्वाला तो तुमको नहीं सता रही है? तो वह लोग उत्तर देते हैं कि नहीं—केवल यतिराज श्रीरामानन्दकी प्रताप-ज्वालासे हम लोग दग्ध हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १७ ॥

त्वदीयपादाब्जनिषेवणाय
विचारयन्नप्ययि कोऽपि जन्तुः।
भवन्झटित्येव समृद्धिपूर्ण-
स्तरोस्सुराणामपि खेदकोऽभूत ॥१८॥

हे प्रभो! आपके प्रतापके आगे कल्पवृक्ष निस्तेजस्क हो गया है। कोई भी प्राणी जब आपके चरणकमलों की सेवा करना तो दूर रहा, सेवा करने

का विचार भी करता है तो वह शीघ्र ही सब प्रकारकी समृद्धिसे परिपूर्ण होता हुआ कल्पवृक्षको भी खेदित करता है । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ १८ ॥

ददाति तद्याचितमेव कल्प-
तरुर्भवान्नूनमयाचितानि ।
कथं परित्यज्य न तं नतेयं
भवत्पदाब्जे जनतास्तु नित्यम् ॥१९॥

हे महाराज ! कल्पवृक्ष तो मांगी हुई वस्तुको ही देता है और आप तो विना ही माँगे अनेक वस्तु देते हैं, अतः लोग उसे छोड़कर क्यों न आपके चरणों में ही प्राप्त हों ! उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ १९ ॥

हे वादिनागेन्द्रमदापहार
निशम्य कण्ठीरवकण्ठरावम् ।
सहैव ते कीर्तिकलाकलापै-
र्दिगन्तमीयुस्तव वादिनस्ते ॥२०॥

हे वादिरूपगजके मदको अपहरण करनेवाले प्रभो ! सिंहसमाज आपके कण्ठरवको सुनकर आपकी कीर्तिके साथ ही साथ वादी लोग भी दिशाओं के अन्तमें चले गये । इन्द्रवज्रा छन्द ॥ २० ॥

वृथा गतं जन्म नृणां हि तेषां
यतिप्रकाण्डात्र न यैस्त्वदीयम् ।
पदाम्बुजं दृष्टमथापि ते वा-
ग्वसुधा न पीता वसुधासुधेयम् ॥२१॥

हे यतिश्रेष्ठ ! जिन लोगोंने आपके चरणकमलोंका दर्शन नहीं किया और पृथ्वीका–अमृत आपका वचनामृतपान नहीं किया उनका जन्म वृथाही गया । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ २१ ॥

विलोक्य तेऽगाधविबोधितां प्रभो
विवेकवारिप्रचयाधिशोधिते ।
उदेति नो चेतसि कस्य धीरियं
बृहस्पतिस्ते पुरतो जडायते ॥२२॥

हे प्रभो ! आपके अगाधपाण्डित्यको देखकर विवेकरूपजलसे धोये हुए किसके चित्तमें यह विचार नहीं उत्पन्न होता है कि 'आपके आगे बृहस्पति जडसमान प्रतीत होते हैं ।' वंशस्थविल छन्द ॥ २२ ॥

कथं वदामः प्रभुतां तव प्रभो
पथि श्रुतीनां चरते यथा तथा ।
ततः पृथग्भूय परां गतिस्पृशे
प्रदीयते शाश्वतिकी परा गतिः ॥२३॥

हे प्रभो ! आपकी प्रभुताका हम क्या वर्णन करें ! आप जिस प्रकारसे वैदिक मार्गमें चलने वालोंको परा गति प्रदान करते हैं वैसे ही वैदिक मार्गसे पृथक् प्रतिकूल चलनेवालेको भी 'परागति' देते हैं । प्रथमको परा गति—श्रेष्ठ गति देते हैं और दूसरेको प्रतिकूलगति = अधोगति देते हैं । वंशस्थविल छन्द ॥ २३ ॥

सकृन्निपीतस्तव पादपङ्कजो-
द्गतो रसो येन न सोऽन्यमिच्छति ।
सुधाकरे सत्युडुपोच्चये क्वचिद्
दृशौ ग्रहेतुं न हि कोऽपि वाञ्छति ॥२४॥

हे महाराज ! एक बार भी जिसने आपके चरणकमलोंके रसका आस्वादन कर लिया है पुनः वह अन्य रसकी इच्छा नहीं करता । क्योंकि चन्द्रमाके रहते-रहते ताराओंकी ओर दृष्टिपात करनेकी इच्छा नहीं करता । वंशस्थविल छन्द ॥ २४ ॥

सन्त्येव नद्यो बहवोऽत्र नाथ
गङ्गैव मूर्धन्यतमाऽविगीता ।
विद्वत्सु तिष्ठत्स्वपि देवदेव
त्वमेव चूडामणितां गतोऽसि ॥२५॥

हे देव ! जैसे संसारमें नदियाँ तो बहुत हैं; परन्तु गङ्गा ही सर्वश्रेष्ठ है। वैसे ही संसारमें विद्वान् तो अनेक हैं; परन्तु सबके चूड़ामणि तो आप ही हैं। इन्द्रवज्रा छन्द ॥ २५ ॥

असाराऽपारेयं विविधविपदावर्तगहने,
निमग्ना संभग्नासुरुचिरकला विश्वजलधौ ।
नता नीता दुःखं नियतिबलतो हिन्दुजनता,
यते! श्रेय! श्रेयः श्रयति तव पादाब्जयुगलम् ॥२६॥

हे यतिराज ! हे श्रेय—आश्रयणीय ! नानाप्रकारके विपत्तिरूप आवर्त—भवरसे गहन, संसारमें डूबी हुई, नष्ट हो गये हैं समस्त सुन्दर कलाविज्ञान जिसके, ऐसी, तथा प्रारब्धबलसे दुःखको प्राप्त करायी गयी हुई यह हिन्दुजनता आज कल्याणकारक आपके चरणकमलोंका आश्रयण कर रही है। शिखरिणी छन्द ॥ २६ ॥

काषायवस्त्रपरिधानपराः परेऽपि,
सन्त्येव किन्तु भवदीयपदं कथं ते ।
विद्येश यान्तु हि कदापि मृगाधिपस्य,
चर्माद्धन्मृगपतित्वमुपैति किं श्वा ॥२७॥

कदाचित् कोई कहे कि संन्यासी तो बहुत हैं, उनके ही शरणमें क्यों नहीं लोग जाते ? तो हे नाथ ! काषायवस्त्रके धारणकरनेवाले हैं तो अनेक; परन्तु वह आपकी पदवीको कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? क्या सिंहके चर्मको धारण करनेसे कभी श्वान सिंह हो सकता है ? वसन्ततिलका छन्दः ॥२७॥

यतिप्रकाण्डाङ्घ्रिसरोजरेणोः
कस्तेऽविवेको विलसत्यजस्रम् ।
नयत्यलं पापरतिस्पृशोऽपि
जनाँस्त्वदीयं यदियं सुधाम ॥२८॥

हे यतिप्रकाण्ड ! आपके चरणकमलके रजको यह कैसा अविवेक हो गया है कि पापियोंको भी आपके धाममें पहुँचा देता है ? उपजाति छन्दः ॥ २८ ॥

न योगिनामप्यभियाति गोचरं
पदद्वयं ते जगदीश्वरस्य यत् ।
तदेव सद्यः परिरभ्य तद्रजः
कृतागसामुन्नयने कृतस्पृहम् ॥२९॥

त्रिलोकीनाथ ! आपके जो चरण योगियोंको भी प्राप्त नहीं होते, उन्हीं चरणोंका आश्रय लेकर—आपके चरणकी धूली, पापियोंके भी उद्धार करनेमें चरणोंका आश्रय लेकर—आपके चरणकी धूली, पापियोंके भी उद्धार करनेमें स्पृहा कर रही है । वंशस्थविल छन्दः ॥ २९ ॥

दयानिधे धेहि दयालवं जनेष्वमीषु
वा तिष्ठतु सोऽत्र तिष्ठति ।
महाघसङ्घाकलितात्मनामपि
सुखप्रदात्वज्जलजाङ्घ्रिधूरिका ॥३०॥

हे दयानिधे ! हम दासोंके ऊपर कृपाका लेश भी करिये । अथवा वह लेश रहे—कोई प्रयोजन नहीं है । बड़े-बड़े पापोंके समूहसे ग्रस्त जीवोंको भी सुख देनेवाले आपके चरणकमलोंकी धूरी यहाँ विराजमान है । वंशस्थविल छन्दः ॥ ३० ॥

सरस्वतीवल्लभ सा निषेवते
सरस्वती ते सततं समीपताम् ।
अनेन सापत्न्यविपिद्विषादिता
गता दिगन्तेषु यशोलता रुषा ॥३१॥

हे सरस्वतीवल्लभ ! वह सरस्वती—लोकोत्तरविद्या निरन्तर आपके ही कीर्ति क्रोधसे दिशाओंके अन्तमें चली गयी है ॥३१॥ वंशस्थविल छन्दः ।

पटीयांस्त्वं स्वामिन्धिषणधिषणाधर्षणविधौ,
तपःस्थाम्ना स्थायी जगति गरिमा ते विजयते ।
त्रिविष्टप्यां को यो वहतु तुलनां ते गुणगणै—
रपीत्याश्चर्यं किं यदि तिरकरोरेव सकलान् ॥३२॥

हे स्वामिन् ! बृहस्पतिकी बुद्धि के घर्षणविधिमें आप ही परमपटु हैं । तपोबलसे आपका स्थायी गुरुत्व जगतमें सर्वोत्कृष्टतासे देदीप्यमान है । त्रिलोकीमें कौन ऐसा है जो गुणगणसे आपकी तुलना कर सके ? अतः हे प्रभो ! यदि आपने सबका तिरस्कार कर दिया तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥ ३२ ॥ शिखरिणि छन्द

अहं त्वत्तुल्यः स्यामिति मनसि संकल्प्य स विधु—
र्मुधा दर्पक्ष्वेडं दधदभवदाकृष्णजठरः ।
तदारभ्यैवायं परमरमणीयोऽपि वपुषा,
जनैः सग्लान्युक्तस्त्वमथ भव दोषाकर इति ॥३३॥

हे प्रभो ! चन्द्रमाने एक बार अपने मनमें ऐसा सङ्कल्प करके कि मैं यतिराज के समान हो जाऊँ—जो व्यर्थ दर्परूपविषपान किया उसीसे उसका उदर—मध्यभाग काला हो गया । और तबसे उस सुन्दर-शरीरवाले भी चन्द्रको लोगोंने ग्लानिके साथ कहा कि आजसे तू 'दोषाकर' हो जा । शिखरिणि छन्द ॥ ३३ ॥

मोहद्विपालान इव त्वदीये
विराजमाने चरणे यतीन्दो !
जपेन किं वा तपसापि किं वा
तीर्थप्रयाणैरपि किं नराणाम् ॥३४॥

हे यतिचन्द्र ! मोहरूपगजके बांधनेकेलिये स्तम्भसमान आपके चरणों-के रहते हुए मनुष्योंको जप, तप और तीर्थयात्रा आदिसे क्या प्रयोजन है ? उपजाति छन्द ॥ ३४ ॥

को नाम पापोच्चयशैल एवं
त्वद्दर्शनाशन्यवलोकितो यः ।
स्थातुं विधत्तां हृदये समीहां
भूयः पुरस्ते विरतिक्षितीश ॥३५॥

हे यतिराज ! कौन ऐसा पापरूपपर्वत है कि जो आपके दर्शनरूप-वज्रसे देखा गया भी पुनः आपके सामने स्थित रहनेकी हृदयमें इच्छा करे ? इन्द्रवज्रा छन्द ॥ ३५ ॥

तवोपदेशपञ्चास्यो निकामं कामकुञ्जरम् ।
भव्यानां हृदयारण्ये प्रणिहन्ति निरन्तरम् ॥३६॥

हे महाराज ! आपका उपदेशसिंह भव्यपुरुषोंके हृदयरूपजङ्गलमें कामरूपगजका निरन्तर वध कर रहा है । अनुष्टुप् छन्द ॥ ३६ ॥

पराजयं प्राप्य जिनानुगामिनः
सहस्रशस्ते यतिराट् तवाग्रतः ।
त्रपावशादेव ततः पटावृतं
निजाननं नूनमिमे प्रकुर्वते ॥३७॥

हे महाराज ! आपके सामने सहस्रोंवार पराजय प्राप्त करके जैन लोग लज्जावश होकर ही अपने मुखको पटावृत करते हैं। यहाँसे ५१ वें श्लोकतक वंशस्थविल छन्द है ॥ ३७ ॥

स्तुवत्यथैवं विदुषि श्रितश्रियि
महान्निनादो दिवि देवदुन्दुभेः ।
जगत्समस्तं ध्वनयन्विवेशतत्
समस्त लोकश्रुतिवर्त्म सत्वरम् ॥३८॥

इस प्रकारसे जब वे विद्वान् स्तुति कर रहे थे, उसी समय आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभिका स्वर समस्तजगत्को शब्दायमान करता हुआ शीघ्र लोगोंके श्रवणगोचर हुआ ॥ ३८ ॥

भुवो बभुर्भूरिसुमाधिवृष्टिभिर्विमान
सृक्काकलितं बभौ नभः ।
विमानमेकं क्रमशः पुरो यते-
रवातरद्दुश्च्यवनाभिभूषितः ॥ ३९ ॥

पुष्पोंकी अतुलवृष्टिसे पृथ्वी शोभने लगी। विमानोंकी पङ्क्तियोंसे आकाश शोभित होने लगा। तथा इन्द्रसे सुशोभित एक विमान क्रमसे श्रीयतिराजके सामने नीचे उतरा ॥ ३९ ॥

दृशां सहस्रेण पिबन् वितृष्णजा
दृगध्वनि प्राप्तमिमं चिराय सः ।
करौ नयन्मूर्धतटं दिवस्पति-
र्जगाद मूर्ध्ना विनतेन तत्पुरः ॥४०॥

पिपासितसहस्रनेत्रोंसे चिरकालके पश्चात् प्राप्त श्रीयतिराजके दर्शन करते हुए, हाथ जोड़े हुए, मस्तक झुकाये हुए, श्रीस्वामीजीके सामने खड़े होकर इन्द्र बोले ॥ ४० ॥

भुवोऽधिभारस्य जिहीर्षयाऽव-
नावकारि पाथोजपदार्पणं त्वया।
न विद्यते तत्करणीयमद्य ते
विभोवशिष्टं किमपि क्षिताविह ॥४१॥

हे प्रभो! पृथ्वीके भारके हरण करनेकी इच्छासे ही आपने यहाँ पदार्पण किया है। अब यहाँ पर आपकेलिये कोई भी कृत्य अवशिष्ट नहीं रहा ॥४१॥

विशोधितं नाथ वनं च यावनं
प्रदर्शितो विक्रम एष पावनः।
न बाधते म्लेच्छगणो जनान् क्वचित्
सभीरिदानीं दनुवंशसम्भवः ॥४२॥

हे नाथ! आपने यवनोंका वन नष्टकर दिया है। अपना पवित्र पराक्रम आपने दिखा दिया है। अतः अब वह सभय यवन किसीको पीड़ा नहीं पहुँचा रहे हैं ॥ ४२ ॥

तव प्रतापज्वलनेन भस्मतां
गतैव सा म्लेच्छभुवामनिष्टधीः।
प्रवर्तते गोहनने न साधुना
कदापि सा हिन्दुमनो दुनोति नो ॥४३॥

आपके प्रतापरूप अग्निसे म्लेच्छोंकी वह दुष्टमति नष्ट हो गयी है। अतः अब न तो उनकी बुद्धि गौओंके वधमें प्रवृत्त होती है और न हिन्दुओंके हृदयको ही किसी प्रकार दुखाती है ॥ ४३ ॥

प्रवर्तमाना अथ वैदिकी क्रिया,
विनिन्दितुं ये वृजिनाधिपा जिनाः।

पुरा भवन्त्यद्य तु तेष्युपासते,
नितान्तमात्यन्तिकमौनमीश्वर ॥४४॥

हे ईश्वर ! प्रथम जो जैनलोग वैदिकयज्ञादिक्रियाओंकी निन्दा करने में तत्पर थे, वह भी मौनावलम्बन करके बैठ गये ॥ ४४ ॥

विगर्हितैस्तैरतिगर्हणा कृता
पुरा च या वेदवचः श्रियां प्रभो !
तदर्थमालुच्य शिरोरुहान्स्वयं
दधत्यलं पापविशोधनानि ते ॥४५॥

प्रथम उन जैनियोंने जो वेदोंकी निन्दा की है उसके निमित्त वह स्वयं अपने बालोंको नोच-नोच कर अत्यन्त प्रायश्चित्त कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

विरक्तमार्गो व्युपरम्य निर्गतः
पुरा य आसीदिह वैष्णवेषु सः ।
पुनः प्रतिष्ठो सततं विशोभते
तवोद्यमस्यैव फलं विभोस्ति तत् ॥४६॥

हे विभो ! प्रथम जो विरक्तमार्ग वैष्णवोंमेंसे विरत होकर निकल गया था, वह पुनः उनमें प्रतिष्ठित होकर सुशोभित हो रहा है। यह भी आपके ही उद्यमका फल है ॥ ४६ ॥

पुनर्विलासं श्रयते महाप्रभो
विलासिनी भक्तिरुदारकान्तिभृत् ।
तवानुकम्पाबलतः समन्ततो
मनोभिरामे हृदये कृतात्मनाम् ॥४७॥

हे महेश्वर ! आपकी ही कृपासे महापुरुषोंके मनोहर हृदयमें परम-शोभाशालिनी विलासिनी भक्ति पुनः विलास करने लगी है ॥ ४७ ॥

गृहे गृहे पावनवेदपारगा
विभान्ति मुख्या मुखजा अनिन्दिताः ।
सरस्वती चापि मुदं वितन्वती
धुनोत्यभव्यां विपदां विभावरीम् ॥४८॥

प्रत्येक ब्राह्मणगृहमें अथ निष्कलङ्क वेदपारदृश्वा ब्राह्मण शोभित हो रहे हैं । संस्कृतभाषा भी आनन्दित होकर अपनी विपत्तिमयी रात्रिको दूर कर रही है ॥ ४८ ॥

दयालुताऽदर्शि दयानिधे त्वया
प्रपूर्य संप्रार्थनमीदृशां च नः ।
वयं गता नाथ कृतार्थतां ततः
प्रपूजयामो जगदेकसत्पतिम् ॥४९॥

हे दयासागर ! क्षुद्र हमलोगोंकी प्रार्थनाको पूर्णकरके आपने जो दयालुता प्रकट की है, उससे हम लोग कृतार्थ हो गये हैं । तथा जगत्के एकमात्र सर्वैश्वर्यसम्पन्नस्वामी आपकी पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

पुनः पुरस्ते स्वमनो भुविस्थितं
निवेदयाम्यद्य न ते न मौलिना ।
निशम्यतां तच्च विधीयतां यथा-
रुचि प्रभो मङ्क्षु कृपापयोनिधे ॥५०॥

आज विनीतभावसे अपने मनकी एक बात कहता हूँ । हे दयाधीश ! उसे सुनिये और शीघ्र, जो उचित प्रतीत हो, कीजिये ॥ ५० ॥

सनाथयन्स्वर्गभुवां भुवं क्षणं
पदार्पणेनाथ वियोगकातरम् ।

चिरेण साकेतमवापयोत्सुकं
सुखं सुखागार दयालवादपि ॥५१॥

हे नाथ ! सुखके भण्डार । साकेतलोक चिरकालसे आपके दर्शन-के लिये उत्कण्ठित है, वियोगकातर है । अतः क्षणभर स्वर्गकी भूमिको चरणरजसे पवित्र करते हुए अब साकेतको सुखी बनाइये ॥ ५१ ॥

देवराजीयवाग्राजीमेवं राजीवलोचनः ।
कर्णजाहमुपाधाय समाधिस्थोऽभवत्क्षणम् ॥५२॥

श्रीराजीवलोचन श्रीयतिराज, देवराजकी इस प्रकारकी वाणीको सुनकर क्षणभर समाधिस्थ हो गये । यहाँसे ७२वें श्लोक तक अनुष्टुप् छन्द है ॥ ५२ ॥

विकसच्छतपत्राभे नेत्रे उद्धाट्य स प्रभुः ।
शिष्यान्सर्वान्समाहूयाददे वाचं सुधामुचम् ॥ ५३ ॥

विकसित—कमलसमान आँखोंको उघाड़कर श्रीयतिराज अपने सम्पूर्ण शिष्योंको बुलाकर अमृतसमान वचन बोले ॥ ५३ ॥

वत्सा भूवासकालो मे परिपूर्णः सुखाकरः ।
ततः साकेतलोकस्य यानकाल उपस्थितः ॥ ५४ ॥

हे वत्स ! अब इस पृथिवीपर मेरा सुखमयनिवासकाल पूर्ण हो गया । इसलिये साकेतलोक जानेका समय उपस्थित है ॥ ५४ ॥

आयुष्मद्भिश्च युष्माभिः सदा सत्त्वावलम्बिभिः ।
धर्मकल्पतरुः सेव्यः सदानन्दाप्तये मुदा ॥५५॥

तुम सबलोग सदा सत्त्वका अवलम्बन करके सदानन्दकी प्राप्तिकेलिये धर्मरूपकल्पवृक्षका प्रेमसे सेवन करना ॥ ५५ ॥

भक्तिकल्पलता येयं महायासेन रोपिता ।
श्रद्धाजलप्रदानेन रक्षणीया मुहुर्मुहुः ॥ ५६ ॥

महापरिश्रमसे जो यह भक्तिरूपकल्पलता रोपी गयी है, उसकी श्रद्धारूपजलप्रदान करके पुनः-पुनः रक्षा करते रहना ॥ ५६ ॥

भाविको विभवो भव्याः शयानोऽग्रे शयानकः ।
इति मत्वा न गन्तव्यं समीपे तस्य कर्हिचित् ॥५७॥

हे भव्यशिष्यो ! सांसारिकवैभवको आगे पड़े हुए सर्पसमान मानकर कभी उसके पास नहीं जाना ॥ ५७ ॥

संक्रान्तकौमुदीकान्तकान्तकान्तिमहीपतिः ।
कामिनी यामिनी धर्मपद्मसद्म विशेन्नहि ॥ ५८ ॥

छिटकी हुई चन्द्रिकाके कान्त = चन्द्रके समान सुन्दरकान्तिकी रानी कामिनी—स्त्री रूपा यामिनी—रात्रि धर्मरूपकमलसमूहमें प्रवेश न करे अर्थात् कभी भी स्त्रीसङ्गमें मत पड़ना ॥ ५८ ॥

शशिलीलेन शीलेन शीलनीयमिदं जगत् ।
शीलशैलं समारोहन् जनो वन्द्यो भवेत्सदा ॥ ५९ ॥

चन्द्रसमान-अर्थात् शीतल सुन्दर शीलसे इस जगत्के साथ व्यवहार करना । शीलरूपशैलपर चढ़ता हुआ पुरुष वन्दनीय होता है ॥ ५९ ॥

प्रियवत्सा न कुत्रापि द्रष्टव्याः क्रूरया दृशा ।
भ्रान्त्यापि प्राणिनः केऽपि धर्ममूलमिदं परम् ॥६०॥

हे शिष्यो ! कभी भी, किसी दशामें भी, क्रूरदृष्टिसे किसी प्राणीको नहीं देखना, यह धर्मका प्रधानमूल है ॥ ६० ॥

कुक्षिप्लुक्षिपरिप्लुष्टानपुष्टान्दीनमानवान् ।
आयातानाश्रमे वोऽत्र प्रत्याख्यात न जातुचित् ॥६१॥

जठरानलसे दग्ध, दुर्बल, दीन मनुष्योंका-जो कि तुम्हारे आश्रममें आवें कभी भी प्रत्याख्यान-तिरस्कार नहीं करना ॥ ६१ ॥

अयं लघुर्गुरुश्चायमिति मा भूद्भिदा क्वचित् ।
प्रभुभक्तेषु युष्माकं धर्मध्यानस्पृशां सताम् ॥ ६२ ॥

धर्मचिन्तनकरनेवाले तुमलोग प्रभुके भक्तोंमें कभी यह भेद नहीं करना कि यह लघु है और यह गुरु ॥ ६२ ॥

भक्तापचारमासोढुं दयालुरपि स प्रभुः ।
न शक्तस्तेन युष्माभिर्विधातव्यो न स क्वचित् ॥६३॥

प्रभु दयालु हैं, तथापि अपने भक्तोंके अपचारको नहीं सह सकते । अतः तुम लोग कभी भी प्रभुभक्तापचार नहीं करना ॥ ६३ ॥

श्रुतिश्रुतसदाचारो बुद्धिमद्भिर्विशोधितः ।
भरणीयः सदा किन्तु यत्र सक्तिर्न पुण्यताम् ॥६४॥

बुद्धिमानोंसे शोधा गया हुआ जो वैदिक सदाचार है उनका पालन करना चाहिये; परन्तु उसमें आसक्ति न होनी चाहिये ॥ ६४ ॥

शक्त्यासक्तिः समासाद्या रामतामरसक्रमे ।
बन्धच्छेदाय सर्वेषां सैव प्रभवतीह यत् ॥ ६५ ॥

श्रीरामजीके चरणकमलोंमें शक्त्यनुसार आसक्तिका सम्पादन करना चाहिये । क्योंकि संसारमें सबके बन्धनोंको छेदन करनेमें केवल श्रीराम-भक्ति ही समर्थ है ॥ ६५ ॥

राम एव सदोपास्यो रमया सह सर्वदः ।
तिरस्कारो न कर्तव्यो देवान्तर इह क्वचित् ॥६६॥

श्रीमहाराणीजानकीसहित-सर्वफलप्रद श्रीरामजी महाराज ही उपासनीय हैं। परन्तु अन्यदेवोंमें तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ६६ ॥

वीक्षिता दीक्षिताः कार्याः सद्भक्ता भीरवोंहसः ।
अपात्रेषु गतो मन्त्रो भस्मन्याज्यमिवोच्यते ॥ ६७ ॥

जो अच्छे प्रकारसे परिचित हों, भक्त हों, पापसे डरते हों, उन्हें ही श्रीराममन्त्रकी दीक्षा देनी चाहिये। क्योंकि अनधिकारीमें गया हुआ मन्त्र भस्ममें घी डालनेके समान कहा है ॥ ६७ ॥

उप्तं तद्धृदयक्षेत्रे धर्मबीजं पुराऽसकृत् ।
देशनासुधयासिच्य महर्द्धि कृतवान् विभुः ॥ ६८ ॥

श्रीस्वामीजीने अपने इन शिष्योंके हृदयरूपक्षेत्रमें जो धर्मरूपबीज पूर्वमें वपन किया था, उसे इस प्रकार उपदेशरूपा सुधासे सींचकर अतीव उत्कृष्ट बना दिया ॥ ६८ ॥

पुनः प्रोचे विचार्य्यार्य्यं सद्विचारो बुधार्यमा ।
सम्प्रदायपरित्राणं कैरुपायैर्भवेदिति ॥ ६९ ॥

श्रीस्वामीजी सम्प्रदायकी रक्षा किन उपायोंसे होगी यह सुन्दर विचार करके पुनः बोले ॥ ६९ ॥

काश्यामास्तामनन्तोऽयं वङ्गेषु च सुखो व्रजेत् ।
सुरः पञ्चनदे गच्छेद्भावो यातु च दक्षिणे ॥ ७० ॥

श्रीअनन्तानन्द काशीमें ही रहें। श्रीसुखानन्द बङ्गालमें रहें। श्रीसुरसुरानन्द पञ्जाबमें और श्रीभावानन्द दक्षिण जावें ॥ ७० ॥

उत्कलेषु नरस्तिष्ठेत्काश्मीरं गालवो व्रजेत् ।
योगः पीपां समादाय गुर्जरेषु व्रजेत्सुधीः ॥ ७१ ॥

श्रीनरहर्यानन्द उत्कल—उड़ीसामें रहें और श्रीगालवानन्द काश्मीर जावें तथा पीपाजीको लेकर श्रीयोगानन्द गुर्जरदेशों में जावें ॥ ७१ ॥

अनन्तेन सहात्रैव तिष्ठेयुरपरे समे ।
बोधयन्तो यथाकालं मर्यादां वैष्णवीं शुभाम् ॥७२॥

अन्य अर्थात् धनेश, कविर, सेन और रामदास प्रभृति यहाँ ही रहें। तथा देशकालके अनुसार यथाविधि लोगों को वैष्णवी मर्यादाका बोध करावें ॥ ७२ ॥

निपीय वाचं यतिराजनिर्मितां,
मनोऽव्यथानिर्मितिकौशलाञ्चिताम् ।
यतिक्षितीशस्य हि शिष्यसत्कुलं,
समाकुलं खेदकुलं जगाम तत् ॥७३॥

हृदयको पीडितकरनेवाले श्रीयतिराजके इस वचनको सुनकर उनके शिष्टशिष्योंको अत्यन्त खेद हुआ। यहाँसे ७७वें श्लोकतक वंशस्थविल छन्द है ॥ ७३ ॥

यदीयपादाब्जपरागसेवना-
द्धुता दुरन्ता अपि कश्मलोच्चयाः ।
कथं सहन्तां सुगुरोर्वियोगजं
महानुभावा इह ते विपद्भरम् ॥७४॥

जिनके चरणकमलोंके परागके सेवन करनेसे दुरन्त पाप भी नष्ट हो गये थे, उन्हीं श्रीगुरुमहाराजके वियोगसे जायमान दुःखको वे कैसे सहें ॥ ७४ ॥

विलोक्य तेषां सुदृशां दृशौ यति-
र्जलाविले हास्यमुपास्य मृद्वयम् ।
करेण पस्पर्श शिरांसि सत्कृपः
क्रमेण शोकापनयं च निर्ममौ ॥७५॥

श्रीयतिराजने अपने शिष्योंको रोते हुए देखकर मृदुहास्य करके कृपासहित उनके मस्तकका स्वहस्तकमलोंसे स्पर्श किया और क्रमसे उनके शोकको दूर कर दिया ॥ ७५ ॥

निरस्तशोकाधिविलासकाश्च ते
यतीश्वरस्याङ्घ्रिसरोरुहद्वये ।

प्रणम्य साष्टाङ्गमयाचिषुर्दयां
तपःप्रभावादतितिग्मतेजसः ॥७६॥

शोकके दूर हो जाने पर स्वामीजीके, तपः—भगवद्भजनके प्रभावसे अत्यन्त तेजस्वी वे सब शिष्य साष्टाङ्गप्रणाम करके दयाकी श्रीचरणोंमें याञ्चा करने लगे ॥ ७६ ॥

कृपाकटाक्षेण निरीक्ष्य सर्वथा
स्थितां समक्षं निजशिष्यमण्डलीम् ।
तथागताञ्जानपदांश्च सम्पदां
पदं शिवानां स उपादिशच्छिवम् ॥७७॥

समस्त कल्याण-सम्पद्के स्थानभूत श्रीस्वामीजी अपने सामने अपने शिष्यों तथा काशीकी जनताको उपस्थित देखकर कल्याणोपदेश करने लगे ॥ ७७ ॥

सत्यं ब्रूत दयां सदा हृदि निधत्ताचारचर्याङ्गणे,
कामं भावविहारमारचयत श्रद्धां गुरौ श्रीहरौ ।
वध्नीत प्रतिकूलमाचरत मा श्रौताध्वगानां पथो,
धर्मे तिष्ठत पापतो भवतु वो नित्यं प्रियास्त्रस्नुता ॥७८॥

हे सर्वजनो ! सदा सत्य बोलो, हृदयमें दया रखो, आचारका पालन करो, गुरु और भगवान्में श्रद्धा रखो, श्रौतमार्ग के अनुयायियों की पद्धतिसे विरुद्ध आचरण मत करो, धर्ममें स्थिर रहो और पापसे सदा डरते रहो । शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ ७८ ॥

एवं जनान्समुपदिश्य सुधर्ममार्गं,
जाते नभःस्पृशि नृणामतिहर्षनादे ।

तन्वत्सु मोदममरेषु च देवदेवो,
यातो विमानमधिरुह्य शिवं स्वधाम ॥७९॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य-विरचिते
श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये विंशः सर्गः ।

देवोंके भी देव श्रीयतिराज इस प्रकारसे लोगोंको धर्ममार्गका उपदेश करके, लोगोंके गगनचुम्बी हर्षनादमें तथा देवताओंके हर्षके बीच में विमान-चढ़कर अपने कल्याणस्वरूप धामको पधारे । वसन्ततिलका छन्द ॥७९॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां विंशः सर्गः ।

यद्यच्छ्रुतं श्रीगुरुपादपद्माद्
गृहीतमन्यैरपि साधनैर्यत् ।
तदेव सर्वं कवितापथेन
मयात्र काव्ये समचायि चारु ॥ १ ॥

आवृत्तिरेषास्ति मया तृतीया
सम्पादितः पाठविशोधनेन ।
श्रीविक्रमाब्दे श्रुतिखाभ्रनेत्रमिते
नभस्ये सुखदे सुमासे ॥ २ ॥

श्रीसम्प्रदायप्रतिकूलबुद्धि-
श्रितां कुचोद्यं परिचोदितं यत् ।
सर्वं तदुन्मूल्य श्रितः समाधिं
प्रणीतवान्काव्यमिदं पवित्रम् ॥ ३ ॥

युवार्बुदे पर्वतराजराजे
चम्पा गुहायां तपसि स्थितोहम् ।

प्रणीतवान्नैष्ठिकवर्णिवर्यः
सद्भाषमेनद्विमलश्रिकाव्यम् ॥ ४ ॥

आचार्य श्रीवैष्णवदेवदेवी-
स्तोत्राण्यनेकानि मनोहराणि ।
निर्माय सर्वत्र परेशभक्ति-
भागीरथीं प्रापयमिद्धधाराम् ॥ ५ ॥

विधाय सर्वोपनिषद्गवीषु
भाष्याणि भव्यानि भवच्छिदानि ।
काव्यं द्वितीयं यतितां गतोहं
प्रणीतवान् भारतपारिजातम् ॥ ६ ॥

नाम्ना त्रिरत्नेति मया विशिष्टा-
द्वैतस्य बोधाय कृतो निबन्धः ।
गीतागवीगौरवसाधनाय
सनाथिता गुर्जरटीकया सा ॥७॥

वटोदराख्ये नगरे महान्त
श्रीरामदासस्य मठेष्टवर्षम् ।
प्राकाश्युषित्वा प्रतिमासमेको
ग्रन्थश्च नाम्ना किल तत्त्वदर्शी ॥८॥
रराज पूर्वं किल पेटलाद-
पुर्यां श्रियः पात्रमनुग्रहस्य ।

यशोविभूषालसितोथ भीखा-
भाईतिनाम्ना प्रथितो महत्सु ॥ ९ ॥

तस्यैव जातो हरिलालशाहो
हरौगुरौ भागवतेषु भक्तः ।
उदारचेता विचितोरुकीर्तिः
सदा हरेर्नाम गृणन्स आस्ते ॥१०॥

तदङ्गजो माणिकलालशाहः
श्रियोनुकम्पाक्षिकटाक्षितोसौ ।
अहम्मदाबादमहानगर्या-
मानीय मां सुस्थिरतामनैषीत् ॥११॥

श्रीवैष्णवानां मतवारिजानां
संभासनायैव सहस्ररश्मिः ।
श्रीवैष्णवाचार्यवरेण रामा-
नन्देनसंभासित इद्धतेजाः ॥१२॥

हिन्दीतिनाम्न्या नृपभाषयासौ
व्याख्यात एवास्ति मया निबन्धः ।
व्याख्याद्वयेनाशु तदीयभाव-
बोधाय बोधातुरसज्जनानाम् ॥१३॥

अद्वैतवेदान्तनिबोधनाय
वेदान्तअभ्यास इति प्रसिद्धः ।

ग्रन्थो मया गुर्जरभाषयात्र
न्यबन्धि विद्वद्वरसत्कृतोस्ति ॥ १४ ॥

प्राणायि भव्यश्रि मया तृतीयं
काव्यं तु मत्साक्षिकवृत्तपूर्णम् ।
शान्त्या स्थितेनात्र महर्द्धि पारि-
जातापहाराख्यमनुष्टुभैत्र ॥१५॥

भाष्येण श्रीवैदिकभाष्यनाम्ना
वेदान्तसूत्राणि विभूषितानि ।
यत्तत्त्वमालोकि न कैश्चिदत्र
मया तदालोकि गुरुप्रसादात् ॥ १६ ॥

आध्यात्मिकार्थप्रतिपादनाय
सामेतिनामानमनूनशोभम् ।
वेदं नवीनेन पथैव साम-
संस्कारभाष्येण समस्कृषीह ॥ १७ ॥

निखिलश्रेष्ठिसल्लक्ष्मलक्षितो धनिको महान् ।
मथुरादासतनयो भीखाभाईतिकीर्तितः॥ १८ ॥

तत्तनूजौ प्रभूलालबालकृष्णौ सहोदरौ ।
शुश्रूषायां सतां नित्यं रतौ सद्वृत्तसद्धनौ ॥ १९॥

ताभ्यामेव जनकस्य स्वस्य स्वर्गनिवासिनः ।
तोषाय सामवेदस्य भाष्यमेतत्प्रकाशितम् ॥ २० ॥

अन्येपि बहवो ग्रन्थाः प्रकीर्णा निर्मिता मया ।
इदानीमपि विच्छेदो नास्ति ग्रन्थविनिर्मितेः ॥२१॥

विद्याभगवतीपादपद्मशुश्रूषया मया ।
श्रीमद्भगवदाचार्ययतिनासाधि सच्छ्रमः ॥ २२ ॥

आनुषङ्गिक एतेन प्रसादो मनसो यदि ।
केषांचिद्गुणवेतॄणां भाग्यलक्ष्मीर्ममास्तु सा ॥ २३ ॥

इति विंशतिसर्गात्मकः श्रीरामानन्ददिग्विजयः समाप्तः

श्रीरामानन्ददिग्विजय के कुछ सुभाषित

अतसीगुच्छसच्छायं माया यं नातिवर्तते ।
तं श्रीरामं गुणग्रामं वन्दे बुद्धिविशुद्धये ॥ सर्ग १ श्लोक १
परदुःखासहिष्णोर्हि स्वसुखापेक्षिताकुतः ॥ १।२३॥
लोकाचारं न वीक्षन्ते ह्यथवा भक्तवत्सलाः ॥ १।२८॥
नमोस्तु सुरसंघातद्वेषिणे सर्वशेषिणे ।
मायिनेपि च मायातः सुदूरमधितस्थुषे ॥१।४६॥
चराचरमिदं सर्वे जगत्त्वत्तः प्रवर्तते ।
त्वयि सन्तिष्ठते पश्चात्त्वय्येव च विलीयते ॥१।४७॥
सर्गावस्थितिसंहारक्रियाभिः स्वत्रिरूपताम् ।
द्योतयन्द्योतसे नित्यं वस्तुतस्त्वं तु केवलः ॥१।४८॥
महतोपि महीयांस्त्वं लघीयांल्लघुतोपि वा ।
परतोपि परश्चासि गुरूणामपि सद्गुरुः ॥१।५३॥
त्वमेवोपायभूतोसि तथोपेयोपि शाश्वतः ।
सर्वेशश्च निरीशोसि वेदवेद्योसि राघव ॥१।५४॥
वर्षाकाले व्यतीते स्याद्वृष्टेराशा कुतस्तराम् ॥१।७५॥
इदक् किं तपो न प्रसूते ? ॥२।६७॥

सर्वं कुलीनं सुफलैर्विनम्रं
भवत्यजस्रं यदयं स्वभावः ।३।।९।।

नैसर्गिकं वस्तु निसर्गतो हि
काले भवत्येव किमत्र चित्रम् ।।३।२२।।

सन्तिष्ठमाने जगदेकनाथे
गर्भे कथं स्यान्मलिनावतारः ।३।३०।।

अवाकिरद्दीनजनेषु वित्त-
मनन्तपारं स उदारचेताः ।

प्रायेण लोके प्रथमं मतं त-
च्चिह्नं प्रशस्तं हि कृतार्थतायाः ।।३।५१।।

प्रातिकूल्यमुपयाति दुर्विधौ
नैव केऽपि दधतेऽनुकूलताम् ।।४।७।

जन्मनाद्य तव नाथ पावितो
वन्द्य एष दिवसः शुभावहः ।।४।१४।।

दुष्टसङ्गजनिताधिसंस्मृतौ
तत्स्मृतिर्भवति तच्च दुःखदम् ।।४।१७।।

वन्यमेव तृणमत्र भुज्यते
पल्वलस्थसलिलं च पीयते ।

याच्यते किमपि नैव कर्हिचि-
द्दीयते सुपयसां चयः सदा ।।४।२८।।

घ्नन्ति नः कुलमथापि घातुका
†हस्तपादमभिबध्य निर्दयम् ।
क्रन्दनं च तदरण्यरोदनं
रुध्यते न किल कण्ठकर्तनम् ॥४।२॥

ते सदास्मदधिदुग्धपायिनो
हिन्दवोऽपि न भवन्ति रक्षकाः ।
स्वार्थसाधनपराः प्रभो परं
बन्धुता हि समये परीक्ष्यते ॥४।३०॥

यस्यास्ति येन सह यन्त्रित एव धात्रा,
सम्बन्धबन्धनविधिर्भवति ध्रुवं सः ॥५।३१॥

नाकार्यमस्ति किमपीह दयालुतायाः ॥५।३३॥

प्रभोरग्रे न गन्तव्यं किङ्करैः रिक्तपाणिभिः ॥६।१६॥

तस्य किं नाम काठिन्यं गुरुणा योऽनुकम्पितः ॥६।७॥

गुरुवचः शिरसैव तदुह्यते
तदवमानपरो निरयी भवेत् ॥७।१२॥

भवति कस्य सुखं न सुतोन्नतेः ॥७।२९॥

पुनरिहाम्रवणे श्रुतिलक्षणे
द्विजगणः परिकूजतु कोकिलः ।
लयमहम्मतिरात्रिरुपैतु त-
द्विकचिता भवताच्छ्रुतिपद्मिनी ॥७।३९॥

---

† हस्तावग्रपादौ ।

स्थानेसमर्पितनिजाखिलसम्पदोलं,
चेतश्चिराय हि निपीडयितुं न चिन्ता ॥७।५७॥

गतिर्हि विचित्रा गुरूणाम् ॥८।३॥
धिग्धि सर्वंकषत्वम् ॥८।६॥

‡सर्वत्रायं भवति नियमो नास्ति तत्तत्तदेव,
श्रीकान्तेच्छामनुगतमिदं ह्यन्यदन्यत्वमेति ॥८।७॥

हा हा लोके विलसति कियद्राज्यमज्ञानतायाः ॥८।८॥

यत्तेजोंशाज्ज्वलति नितरामुज्ज्वलं वीतिहोत्र-
स्तत्तापाय प्रभवतु कथं पारतन्त्र्यावविद्धः ॥८।९॥

कः प्रोज्झितुं क्षम इहास्ति हि दैवरेखाम् ॥८।४४॥
संस्कारिणं हि वरितुं गुणकर्षणीया,
विद्या न पश्यति वयो न च दीर्घकालम् ॥८।४६॥

सत्यमेतदिति यद्धृदि साधो-
मूर्च्छति त्वरितमेव गुणश्रीः ॥९।४॥

जातरूपमनलं समवाप्य
शोभतेधिकमयं हि निसर्गः ॥९।३४॥

पुरो गुरूणां गुरुतावरस्य का ॥१०।१८॥

प्रकाशरूपे भवतः पदद्वये
निवासमातन्वति मामके हृदि ।

---

‡ अयं नियमः सर्वत्र न भवति, अस्ति तत् तत् तदेवेतियोजना ।

कथं तमस्तिष्ठति तत्र चित्र-
मित्यहो विधेरेव हि दुर्विलासिता ॥१०।४२॥

अमृतं पिपासति जनो विरलो
विरलश्च वष्टि परिपाययितुम् ॥११।४॥

आचार्य एव परतोपि परोस्ति देवः ॥१२।२२॥
त्याज्या प्रयत्नपटलैः सुनरैरहन्ता ॥१२।२३॥
मित्रद्रुहो गुरुविरोधपरा नरा ये,
ये चापरस्य सुगुणेष्वपि दृष्टदोषाः ।
ये भ्रूणहिंसनविधौ परमं सुदक्षा,
हेयाश्च ते सपदि नारकिणः सदैव ॥१२।२६॥
श्रेयोभिलाषिभिरसुव्यसनागमेपि,
मानाभिभङ्गभयतोपि मृषा न वाच्यम् ॥१२।३०॥
तेषां न भुक्तिरिह मुक्तिमथो परत्र,
न स्यात्कदापि विविधभ्रमजालभाजाम् ॥१२।३३॥
शास्त्रं विचार्य हृदयेन च तद्विरुद्धं,
यो नाचरेत्स परमं पदमभ्युपैति ॥१२।४८॥
विद्यासुरत्नलसिता अपि पापचारा,
ग्राह्या न तेतिविपदागमनेपि कैश्चित् ॥१२।५६॥
संसारपाथोधिमपारमिद्धकामादिदुर्धर्षणसत्त्वजालम् ।
यः स्यात्तितीर्षुः स हि निर्मिमीतां
श्रीरामनामप्लवमञ्जसैव ॥१२।५९॥

भये च दुःखे विजने जने वा
पुत्रे कलत्रे भवने वने वा ।
सुखाय योत्र स्पृहयेदजस्रं
स रामनामस्मरणं करोतु ॥१२।६०॥

नरपते कठिना हि विरागिता ॥१३।१२॥

उदयते तिमिरं यतिभूपते,
नहि विभाति विभास्वति कर्हिचित् ॥१३।२१॥

अतिसमृद्धमपीह तमो हि किं
न रविणा समुदित्य निवार्यते १३।२
स्वयमपीच्छति यो भरणं परा-
द्भरणमादधतां स परस्य किम् ॥१३।२३॥

स्वधव एव यतो हि सतीधनम् ॥१३।२८॥

न हि दया विरुणद्धि विरक्तताम् ॥१३।४४॥

क्व नु पुनर्हृदयं हृदयेन ते
हृदयनाथ हरिर्घटयिष्यति ॥१३।६२॥

त्वदपराध उदारमते मया
यदि कृतः स्मरणादपसार्यताम् ॥१३।६७॥

विधिकरोन्मिषितं च कदक्षरं,
गतमहो नितरां चरितार्थताम् ॥१३।७०॥

यदि मया भवतां परिषेवणे

प्रियतमेषु भवत्सु हि तत्कृते
विहित एष पुनः पुनरञ्जलिः ॥१३।७५॥

हा हिन्दुता भारतवर्षतोद्य
गतेति मन्येवसितानि चास्य ।
शुद्धावदानानि दिनानि तानि
सत्यं विधातुः प्रबला समीहा ॥१४।३९॥

दिने दिने वर्धत एव मन्ये
कार्पण्यदोषोखिलहिन्दुलोके ।
नश्येदयं चेन्नहि शीघ्रमेव
नामापि नश्येन्ननु हिन्दुजातेः ॥१४।४३॥

को न भुङ्क्ते कृतं निजम् ॥१५।१३॥
एतदेव महत्त्वं यच्छत्रुपक्षेप्यनुग्रहः ॥१५।१८॥
स्वार्थे विलम्बं सहते हि कः ॥१५।२०॥
सतामेषोमलः पन्था दयन्ते ह्यसतामपि ॥१५।३२॥
सतां व्यतिक्रमस्तात नाशायाशु शरीरिणाम् ॥१५।३३॥
स्वर्गापवर्गयोर्हन्ता गर्वः खर्वत्वकारणम् ।
तस्मात्स परित्याज्यः श्रेयः सततमिच्छता ॥१५।३४॥
निर्जनायामरण्यान्यामपि निर्भयता कुतः ॥१५।४५॥
आत्मनीनं न कुर्वन्ति कर्म गर्वकशाहताः ॥१५।४७॥
हिमपातेन शुष्यन्ति सरोजानि सरांसि नो ॥१५।९६॥
भगवत्प्राप्त्युपायो हि सर्वसाधनहीनता ॥१५।११२।५९॥

दुराचारोपि चेत्कश्चिद्विवशो दुःखकातरः ।
साहायकमपेक्षेत धत्ते तस्य तदात्मवान् ॥१७।१५॥
अयं योग्योथवायोग्य इत्येवं सम्प्रधारणा ।
आपत्काले न शोभेत दयार्द्रमनसां सताम् ॥१७।१६॥
साधनेन हि साध्यानि सिध्यन्ति मतिसूदन ॥१७।२४॥
शौचमाभ्यन्तरं चास्तु बाहीकमपि तत्तथा ।
बाहीकं पूर्वसोपानमान्तरं तदनन्तरम् ॥१७।१२५॥
बलात्कारेण पातित्यं पातित्यं तन्न संमतम् ॥१९।६४॥
धर्मकल्पतरुः सेव्यः सदानन्दाप्तये मुदा ॥२०।५५॥
भाविको विभवो भव्याः शयानोग्रे शयानकः ।
इति मत्वा न गन्तव्यं समोपे तस्य कर्हिचित् ॥२०।५७॥
संक्रान्तकौमुदोकान्तकान्तकान्तिमहोपतिः ।
कामिनी यामिनो धर्मपद्मसद्म विशेन्नहि ॥२०।५८॥
अयं लघुर्गुरुश्चायमिति मा भूद्भिदा क्वचित् ।
प्रभुभक्तेषु युष्माकं धर्मध्यानस्पृशां सताम् ॥२०।६२॥
भक्तापचारमासोढुं दयालुरपि स प्रभुः ।
न शक्तस्तेन युष्माभिर्विधातव्यो न स क्वचित् ॥२०।६३॥
शक्त्यासक्तिः समासाद्या रामतामरसक्रमे ।
बन्धच्छेदाय सर्वेषां सैव प्रभवतीह यत् ॥२०।६५॥